हिन्दू पद-पादशाही



स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर
प्रधान, हिन्दू महासभा



राजपाल एण्ड सन्ज
अनारकली - लाहौर

मूल्य
चार रुपया

प्रकाशकीय—

A Nation that forgets the glory of itspast, loses mainstay of its National Character. —Maxmulea

'जो राष्ट्र अपने प्राचीन गौरव को भुला देता है, वह अपनी राष्ट्रीयता के आधारस्तम्भ को खो बैठता है।' इसी शाश्वत् सत्य को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। राष्ट्र का इतिहास एक अमूल्य सम्पत्ति है जिसे सुरक्षित रखने में ही देश का मङ्गल है। 'हिन्दू पद-पादशाही' नाम ही पुस्तक के आशय को प्रकट कर देता हैं। हिन्दवी राज्य की स्थापना करने का जो सफल प्रयत्न सतारहवीं, अठारहवीं शताब्दी में किया गया, उसी का यह चित्रण है।

× × × ×

कालेपानी की नारकीय यातना सहन करने के बाद जब स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर रत्नागिरि जिले में नजरबन्द थे, उस समय उन्होंने यह पुस्तक लिखी। पंजाब-केसरी स्व० लाला लाजपतराय जी, 'इंडियन एजुकेटर' मदुरा तथा 'इण्डियन हिस्टारिकल कल्चर' ने इस पुस्तक की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। आज हिन्दू-राष्ट्र के सामने जो काली घटाएं छाई हैं, उनको दूर कर स्वतन्त्रता के सूर्य को फिर देदीप्यमान करने के लिये जिन घटनाओं का सिंहावलोकन करने को आवश्यकता है, वे इस पुस्तक में हैं। आशा है यह पुस्तक अपने उद्देश्य को पूरा करेगी।

× × × ×

यह पुस्तक श्री सावरकर जी की विशेष आज्ञा से प्रकाशित हो रही है, अतः मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

—विश्वनाथ एम. ए.

लेखक के दो शब्द

ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है प्राचीन इतिहास की सत्यता की परख करना कठिन हो जाता है. परन्तु श्रीयुत राजवाडे आदि विद्वानों के सतत् प्रयत्नों से महाराष्ट्र का इतिहास आज पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गया है। इससे पहले तो हमें अपने इतिहास की जानकारी के लिए केवल विदेशी इतिहासकारों की खोज पर ही आश्रित रहना पड़ता था। नई खोज के बहुत से काग़ज़-पत्रों और शाही दस्तावेज़ों के मराठी में होने के कारण श्रीयुत् जस्टिस रानाडे के अतिरिक्त किसी भी और विद्वान ने महाराष्ट्र के इतिहास को ऐसी भाषा में लिखने का यत्न नहीं किया जिससे भारतवर्ष की जनता अथवा सारा संसार महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्व को समझ सकता। मेरे दिल में बड़ी देर से यह इच्छा थी कि लोगों के सामने एक ऐसी पुस्तक रखी जाय जिससे महाराष्ट्र के इस महान् आंदोलन का और क्रांति के सन्देश का कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान हो सके। सन् १९१० में सिखों के इतिहास को लिखने के बाद, जो कि शुरू में क्रांति के आंदोलन के थपेड़ों में ही कहीं नष्ट-भ्रष्ट हो गया, मैंने मराठों के इतिहास को अंग्रेज़ी में लिखना शुरू किया।

परन्तु उस समय कुछ ऐसे आवश्यक कर्तव्य आ पड़े जिनके कारण जीवन के बहुत से दिन अन्दमान की निर्जन काल-कोठरियों में मृत्यु और अन्धकार से मुठभेड़ में बीत गए और इस साधना को पूरा करने की आशा भी जाती रही।

अन्ततः ईश्वर को यह मन्जूर था कि मैं पुनः इस काम को हाथ में लूं और अपने महान् पूर्वजों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करूं जिन्होंने सत्तारहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बड़ी वीरता से अपनी आन और हिन्दु-राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा की। मैं कारागार से मुक्त हुआ और इस पुस्तक को लिखा।

किसी भी प्रान्तीय जागृति की महत्ता की छाप हिन्दू-राष्ट्र के

इतिहास पर अपना प्रतिबिम्ब डाले बिना नहीं रह सकती चाहे वह जागृति की लहर राजपूतों में उमड़ उठी हो या सिखों में, मराठों में अथवा मद्रासियों में। एक अंग की सफलता समस्त जाति की निहित शक्तियों की द्योतक होती है। इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त भी मरहठों की जागृति का आंदोलन तो प्रांतीय सीमाओं को लंघ कर 'अखिल हिन्दू आन्दोलन' का महत्व रखता है। इसलिए इस विवेचनात्मक पुस्तक लिखने का मुख्य उद्देश्य महाराष्ट्र के बाहर अन्य-प्रान्त-वासियों को इस मरहठा आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास का हिन्दू-दृष्टिकोण से दिग्दर्शन कराना है। अतएव इस में महाराष्ट्र के हिन्दू साम्राज्य की पूरी कहानी तो नहीं दी गई, केवल उन मुख्य आदर्शों और उद्देश्यों का ही चित्रण किया गया है जो इस आंदोलन के आत्मा थे।

हिन्दू-साम्राज्य के उत्थान और पतन की कहानी हमें एक महान् संदेश देती है जो इस पुस्तक के पन्ने २ पर अंकित है। अतएव हिन्दुओं को इस पुस्तक का विशेष परिचय कराने की कोई बड़ी आवश्यकता नहीं।

परन्तु, मुसलमान पाठकों से इस विषय में दो शब्द कहना जरूरी है। इतिहासकार का यह कर्तव्य है कि वह अपने पात्रों की आकांक्षाओं, भावनाओं और कारनामों का भी यथारूप चित्रण करे। यह तभी सम्भव है जब वह अपनी पहले से बनाई धारणाओं को एक ओर रख दे और इस बात की भी परवाह न करे कि उसके इस चित्रण से वर्तमान के हितों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। वर्तमान के हितों की रक्षा के लिए इतिहास की घटनाओं को हल्का, गहरा अथवा नकली रंग दे देना कदापि उचित नहीं। उदाहरणतया, हजरत मुहम्मद के जीवन को लिखने वाला अपना कर्तव्य ठीक प्रकार से नहीं निभाएगा यदि वह बुत-परस्तों और काफ़िरों के प्रति मुहम्मद की तीव्र चोटों को इस विचार से चुभते ढंग से वर्णन न करे कि इससे ग़ैर-मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुंचेगी। दूसरों की भावनाओं की रक्षा का ठीक ढङ्ग तो यह है कि लेखक स्वयं अन्य मतावलम्बियों के प्रति सहिष्णु हो और अपनी

रचनाओं के अन्त में अपने मतभेद और स्वतन्त्र विचार भी लिख दे। परन्तु इतिहास की घटनाओं को ज्यों का त्यों ही लिखना चाहिये। यदि वह ऐसा न कर सके तो बेहतर है कि वह मुहम्मद का जीवन ही न लिखने बैठे। ठीक इसी तरह उसके पाठकों का भी एक कर्तव्य है और विशेषकर उन पाठकों का जिन्हें मुहम्मद की शिक्षाओं पर कोई आस्था नहीं। पाठकों को यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि मुहम्मद, बाबर अथवा औरङ्गज़ेब की अच्छी बुरी आकांक्षाओं, भावनाओं और कारनामों का यथारूप चित्रण करने वाला लेखक, आज का अच्छा नागरिक नहीं हो सकता। सम्भवतया वह लेखक अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति बहुत उदार और सहिष्णु हो। हिन्दू इतिहास के उस काल का वर्णन करते हुए जब कि हिन्दू, मुसलमान शक्तियों के साथ जीवन और मरण के भीषण संघर्ष में उलझे हुए थे, हम एक सच्चे लेखक के आदर्श से नहीं गिरे। सभी घटनाओं के कारणों की निष्पक्ष खोज की है और जहां तक बन पड़ा है घटनाओं के पात्रों के भावों को, उनके अपने शब्दों द्वारा ही व्यक्त किया है। परन्तु इससे मुसलमानों को लेखक पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिये कि उसके हृदय में उनके प्रति कोई द्वेषभाव है। हालांकि यह इतिहास के उस भाग का विश्लेषण है जब कि मुसलमानों के पूर्वजों के प्रति हिन्दुओं ने एक भारी आवाज़ उठाई और एक ऐसी ज़बरदस्त टक्कर ली, जिसे लेखक न्यायपूर्ण समझता है। बीती बातों और पुरानी शत्रुताओं के आधार पर आज भी लड़ते रहना उतना ही हास्यास्पद है और घातक भी, जितना कि हिन्दू और मुसलमान आपस में गले मिलते हुए केवल इसलिए एक दूसरे को मारने का दांव करें क्योंकि आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व शिवाजी और अफजलखान ने ऐसा किया था।

इतिहास का मनन इसलिये नहीं करना चाहिये कि हम पुराने झगड़े और फ़िसाद को चिरस्थायी रखने के लिये कोई कारण ढूंढ निकालें और आज भी 'मातृभूमि' या 'खुदा' के नाम पर खून की नदियां

बहा सके। इतिहास का काम तो उन मूल कारणों की खोज करना है जो झगड़े, फ़िसाद और खूँरेज़ियों को मिटा कर, मनुष्य को मनुष्य से—जो एक ही प्रभु के पुत्र हैं और एक ही माता वसुन्धरा की गोद में पले हैं—मिला दें, और अन्तत सार्वभौम मानव प्रजातन्त्र स्थापित कर सकें।

परन्तु दूसरी ओर, इस दूरस्थ आशा की चमक से हमारी आंखें चुंधिया कर इस सनातन सत्य को ओझल न कर दें कि इस संसार में मनुष्य और जातियां समुदायों में बंटी हुई हैं और, युद्ध और संघर्ष की भट्टी में से गुज़र कर ही परस्पर एकरूप हो सकती हैं। जो जातियां कठिन परीक्षा में अपनी नैतिक और शारीरिक योग्यता के बल पर सफल होती हैं, उन्हें ही संसार में जीने का अधिकार है। अतः एकता की दुहाई देने से पहले अपने को एक जीवित राष्ट्र की हैसियत में खड़े देख लेना उचित होगा। इसी कठिन कसौटी पर पूरा उतरने के लिए हिन्दुओं को मुसलमानों से भीषण संघर्ष करना पड़ा। स्वामी और ग़ुलाम में आदरपूर्ण मेल नहीं हो सकता। यदि हिन्दुओं ने उठकर अपनी शक्ति का परिचय न देकर अपने पर किये गये अत्याचारों का मुंहतोड़ उत्तर न दिया होता, तो उस समय मुसलमान मित्रता का हाथ बढ़ाते भी, तो उसमें मित्रता की अपेक्षा दया का भाव होना था। और हिन्दू भी उसे आत्म-विश्वास, अधिकार और समानता से न ग्रहण कर सकते थे। मित्रता समान शक्तियों में होती है। सच पूछो तो, उस महान संघर्ष ने ही, जो कि हिन्दुओं ने देश और धर्म की रक्षा के लिए किया, इन दो शक्तियों में परस्पर समान मित्रता का द्वार खोल दिया। इसी कारण अपनी पुस्तक 'सन् १८५७ का स्वातन्त्र्य संग्राम' में मैंने लिखा था कि हिन्दू-मुसलिम एकता केवल उस दिन से थोड़ा बहुत सम्भव होने लगी जब सन् १७६१ में हिन्दू राष्ट्र के वीरों ने दिल्ली में विजय-पताका फहराई और मुग़लों का तख्त, ताज और झण्डा वीर सेनानी भाऊ और नवयुवक विश्वासराव के चरणों में टुकड़े-टुकड़े होकर धूल में मिल गया। क्योंकि उस दिन हिन्दुओं ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त की और इस विश्व के रङ्ग-मञ्च पर एक जीवित राष्ट्र

के रूप में खड़े रहने के अधिकार का प्रमाण दिया। उन्होंने विजेता पर विजय पाई—और तब वह समय था जब यदि मुगल चाहता तो देशवासी और मित्र के नाते उसे गले लगाया जा सकता था। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो मरहठों का इतिहास हिन्दू-मुसलिम एकता की राह में बाधक होने के स्थान पर चिरस्थायी-एकता के मार्ग का निर्देश करता है जो कि इससे पहले दुर्गम था। इसलिए भारतीय इतिहास का यह स्वर्णिम समुल्लास सभी भारतीय देशभक्तों—हिन्दुओं और मुसलमानों—के विशेष रूप से अध्ययन करने के योग्य है।

साधारण पाठकों के लिए भी स्वतन्त्र्य-संग्राम में उलझे हुए राष्ट्र की यह गौरव-गाथा कुछ कम दिलचस्प न होगी जिसमें सुभट योद्धाओं, दूरदर्शी राजनीतिज्ञों, साम्राज्यों-निर्माताओं, सन्तों और कवियों—शिवा जी और बाजीराओ, भाऊ साहब और जनकोजी, नानाजी और महादजी, सन्त रामदास और मोरोपन्त—ने भाग लिया।

शिरगांव

१५ फ़रवरी १९२५

—सावरकर

विषय-सुची

१.

नवीन युग

"स्वधर्मराज्यवृद्धि करणें ! तुम्हीं सुपुत्र निर्माण आहां" ❀

[शिवाजी के नाम शाहजी का पत्र]

महाराज शिवा जी का जन्म सन् १६२७ ई० में हुआ। उन के जन्म के कारण ही यह साल एक नये युग का प्रारंभिक काल बन गया। शिवा जी के जन्म से पहिले सैंकड़ों ही वीर आत्माएं, मुसलमान शत्रुओं के आक्रमणों को रोकने के लिए तथा हिन्दू-जाति की मान रक्षा के लिए लड़ते लड़ते अपना बलिदान दे चुकी थीं। अपने देश पर मर मिटने वाले इन योद्धाओं की तरह, शिवा जी बड़ी वीरता से लड़ते हुए विजय-लक्ष्मी को वर लाए। वह विजय पर विजय प्राप्त करने लगे। इस विजय-तरंग ने सारे भारत के हिन्दुओं में नवजीवन भर दिया। देश में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो गई जो क्रमशः बढ़ती २ इस योग्य बन गई कि सैंकड़ों वर्षों तक लगातार शत्रुओं पर विजय पाती रही और हिन्दू-धर्म-ध्वजा उन्नति के उच्चतम शिखर पर लहराती रही।

महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण से लेकर यवनों की विजय-लहर इतने प्रबल वेग से बही कि उसका कोई मुक़ाबला न कर सका। यह लहर तब तक बढ़ती गई जब तक कि सारा भारत उस में विलीन न हो गया। शिवा जी सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्हों ने विधर्मियों की इस विजय लहर से अपना सिर निकाला और इस लहर को दृढ़तापूर्वक संबोधित करते हुए कहा —'बस जहां तक तुम्हें बढ़ना था तुम बढ़ चुकीं, अब और आगे नहीं बढ़ सकतीं'। शिवा जी के राजनैतिक रंग-मंच पर प्रकट होने से पहले—अर्थात् सन् १६२७ ईस्वी से पहले हिमालय से लेकर

❀ मेरे सुपुत्र ! तुम्हारा जन्म अपने धर्म और राज्य की वृद्धि के लिए ही हुआ है।

समुद्र पर्यन्त जहाँ कहीं हिन्दू और मुसलमान सेनाओं में मुठभेड़ हुई वहां हार हिन्दुओं को ही हुई। हिन्दुओं की यह पराजय कभी उन के नेता के सहसा गुम हो जाने या मर जाने के कारण होती थी, अथवा कहीं कभी किसी मंत्री अथवा किसी सेनापति के विश्वासघात के कारण। इस प्रकार जब कभी दो-टूक युद्ध आरभ होता तभी वह हिन्दुओं के लिए दुर्भाग्य का कारण ही सिद्ध होता है। दाहर के दुर्भाग्य, जयपाल के युद्ध, अनंगपाल की दृढ़ता, पृथिवीराज की अवनति, तथा कालिंजर, सीकरी अथवा तालीकोटा की घटनाओं को स्मृतिपट पर लाने से ऊपर कहे हुए तथ्य की सत्यता प्रकट हो जाती है। पर जब शिवा जी ने हमारी जाति के भाग्य को अपने हाथ में लिया तो उस का पाँसा ही पलट दिया। जो बुरे दिन हिन्दुओं को देखने पड़ते थ वे अब विधर्मियों के सामने आने लगे। इस के पश्चात् हिन्दुओं की ध्वजा को फिर कभी यवनों के हलाली परचम के आगे झुकना नहीं पड़ा।

सन् १६२७ के बाद, हिमालय से लेकर सुमुद्र तक, जहां कहीं हिन्दुओं को मुसलमानों के साथ युद्ध करना पड़ा, वहीं हिन्दू विजयी रहे और मुसलमानों को सदा मुंह की खानी पड़ी यद्यपि उन की शक्ति हिन्दुओं से दुगनी-चौगुनी होती थी, और उनके 'अल्ला हो अकबर' — 'ईश्वर विजयी हो'—के नारों से आकाश भी गूंज उठता था। इस में कोई सन्देह नहीं की विजय ईश्वर की ही हुई, पर अब की बार ईश्वर हिन्दुओं का था। सन १६२७ के पश्चात् ईश्वर हिन्दुओं की ओर सम्मिलित हो गया था—उन हिन्दुओं की ओर जो मूर्ति-पूजक थे। अब वह मूर्ति-तोड़कों को घृणा की दृष्टि से देखने लग गया था। इस तथ्य की सत्यता भी सिंहगढ़ की विजय और पावनखण्ड की रक्षा की घटनाओं, तथा गुरु गोविंदसिंह, बंदा बहादुर, छत्रसाल, बाजीराओ, नानासाहिब, भाऊजी, मल्हरराओ, परशुराम पन्त, रणजीतसिंह और अन्य असंख्य मरहठा, राजपूत और सिख सेनापतियों के जीवन-चरित्रों

पर विचार करने से प्रमाणित हो जाती है जिन्होंने यवनों को, जहां और जब कभी उनसे टक्कर लगी, हरा कर भगा दिया था। हिन्दुओं के राजनैतिक क्षेत्र में सहसा इस महत्वपूर्ण तथा विजयपूर्ण परिवर्तन के दो मूल कारण थे—एक तो यह कि शिवाजी और उनके पूज्यपाद गुरु सद्ज्ञानी रामदास जी जैसी महान आत्माओं ने हिन्दू जाति के सामने उनके आध्यात्मिक तथा जातीय उच्च आदर्श को युक्ति-पूर्वक रक्खा, दूसरे उन्होंने नवीन युद्धकला तथा नये २ अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार किया। सचमुच ही मरहठों की यह नवीन युद्धकला युद्ध-विज्ञान में एक नया आविष्कार ही था। उस समय यह हिन्दुओं में बहुत प्रचलित हो गई क्योंकि महाराष्ट्र धर्म एक नवीन शक्ति थी जो कि उस समय हिन्दू जाति के राजनैतिक जीवन की नष्ट होती हुई आत्मा में नवजीवन का सञ्चार कर रही थी।

यह हिन्दु-पद-पादशाही—अर्थात स्वतन्त्र हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना का उच्च आदर्श ही था जिसने हिन्दू स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले नेताओं को दृढ़ विश्वास के साथ उभारा और उनमें अपार शक्ति भर दी। साथ ही मरहठों ने युद्ध के नये और विस्मयजनक ढङ्ग-गुरेला युद्ध कला--से मुसलमानों को दङ्ग कर दिया। इस नवीन युद्ध-कला के सामने यवन न ठहर सके। इस प्रकार मरहठोंने मुसलमानों पर अपनी वीरता से विजय प्राप्त करके हिन्दू जाति के मस्तक को पुनः विजय-तिलक से सुशोभित कर दिया।

इतना ही नहीं, आगे चलकर हम देखेंगे कि उनके इस उच्च ध्येय ने मरहठों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयत्नशील बनाया, उन्हें प्रोत्साहित किया, उनकी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित किया, उनका उद्देश्य एक बनाया तथा उनके हित भी साँझे बना दिये, जिससे वे अनुभव करने लगे कि उन लोगों के मनोरथ न तो व्यक्तिगत हैं और न केवल प्रांतीय, वरन् यह एक धार्मिक तथा सार्वदेशिक कार्य है, जो साधु से लेकर

एक सिपाही तक का मुख्य कर्तव्य होना चाहिये । इसी मनोरथ और उत्साह से मरहठे विजय पर विजय प्राप्त करते हुए दिल्ली के फाटक तक ही नहीं, वरन् सिन्ध के किनारे तक तथा दक्षिण में समुद्र तक पहुंच गये जिनका एकमात्र लक्ष्य भारत के एक विशाल हिन्दू साम्राज्य एवं हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करना था, उनके किये हुए अमानुषिक कार्यों की कथाओं से वीररस प्रधान एक महाकाव्य बन गया, जिसे हिन्दू मातायें अपने बच्चों को उन गीतों के स्थान पर सुना सकती हैं, जो कुछ समय पहले हमारे अधःपतन तथा हमारे ऊपर शत्रुओं के विजय प्राप्त करने की याद दिलाती थीं।

हां, तो शिवाजी का सन् १६२७ में जन्म हुआ । उनके समकालीन इतिहासकारों का कथन है कि ज्यों २ शिवा जी की आयु बढ़ती गई त्यों २ वे हिन्दू जाति को परतन्त्रता अनुभव करके विशेष दुखी होते गये। जब वे यवनों द्वारा हिन्दू-देवी देवताओं के मन्दिरों के नष्ट किये जाने तथा अपने पूर्वजों की यादगारों के अपमानित तथा अपवित्र किये जाने के विषय में सोचते थे तो उनका हृदय विदीर्ण हो जाता था।

उनकी वीर माता जीजाबाई ने बाल्यावस्था में ही उनका हृदय, हिन्दू जाति के गौरव तथा नरपुङ्गव श्री राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, अभिमन्यु तथा सत्यवादी हरिश्चन्द्र की सत्कीर्त्तियों से भर दिया था, फलतः उनके हृदय-गगन में उसी प्रकार के उत्साह तथा आशा के बादल मँडराने लगे।

प्रत्येक आस्तिक के मुख से—जिसका देवी-देवताओं के प्रति विश्वास था और जिसके हृदय में कृष्ण भगवान की अटल प्रतिज्ञा सदा गूंजती रहती थी कि वे उनसे कभी विमुख न होंगे-यह बात निकलती थी कि हिन्दू-संसार को रक्षा के लिए कोई उद्धारक अवश्य अवतीर्ण होगा। शिवाजी के कुटुम्ब की इसी परम्परागत धारणा ने उनके हृदय में इस बात का विश्वास भर दिया कि यह मेरा ही कुल है जिसको ऐसे राष्ट्र-उद्धारक

महापुरुष के आविर्भाव करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। क्या यह संभव था कि ये सब भविष्यवाणियां शिवाजी के आगमन को सूचित कर रहीं थीं? क्या उनको अपने में राष्ट्र द्वारा चुना हुआ नेता अथवा भगवान् का वांछित साधन होने की कोई संभावना हो सकती थी। यह बात सच निकले या झूठ, पर एक बात तो निश्चित थी वह यह कि उनका कार्यक्षेत्र उनके सामने प्रत्यक्ष था।

महाराज शिवा जी अपने जीवन को उन गुलामों की भांति कलंकित तथा हास्यास्पद नहीं बनाना चाहते थे, जिन्होंने जीवन के तुच्छ सुखों के लिए अपनी पवित्र आत्मा को विदेशियों के हाथ बेच दिया था—उन विदेशियों के हाथ जिन्होंने उनकी जाति के सिंहासन को टुकड़े टुकड़े कर दिया था, जिन्होंने धर्म-मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। इसके विपरीत वे अपने जीवन में अपने पूर्वजों की गौरव-रक्षा के लिए भयानक से भयानक कठिनाइयों का सामना करने के लिये कटिबद्ध रहते थे और समय पड़ने पर जान देने के लिये भी उद्यत रहते थे। उनकी यह दृढ़ अभिलाषा थी कि यदि उनकी विजय हुई और रणक्षेत्र में वे जीवित रहे तो अवश्य ही हिन्दू जाति के लिए विक्रमादित्य तथा शालिवाहन की भांति महत्वशाली तथा शानदार राज्य स्थापित करेंगे जो उनकी जाति के लोगों के सुख-स्वप्नों को पूरा कर देगा, जो ऋषियों मुनियों की अभिलषित प्रार्थनाओं को पूरा करने वाला सिद्ध होगा।

२.

हिन्दवी स्वराज्य

[शिवाजी का पत्र]

सन् १६४५ ईस्वी में किसी स्वदेशी-व्यक्ति ने बीजापुर-राज्य से शिवा जी कि निन्दा की थी कि वह राजद्रोही हो गये हैं।

उसके उत्तर में शिवा जी ने इस अभियोग को अस्वीकार करते हुए लिखा कि वह बीजापुर के शाह के विद्रोही नहीं है और उसे अपने कर्तव्य का स्मरण कराते हुए लिखा था कि उन्होंने केवल ईश्वर के प्रति अपने विश्वास की दृढ़ प्रतिज्ञा की थी न कि किसी शाह के प्रति। धर्म पर किसी राजा का अधिकार नहीं है। क्या आपने अपने संरक्षक दादा जी तथा मित्रमंडल के साथ सह्याद्रि पर्वत के शिखर पर ईश्वर को साक्षी देकर यह शपथ न ली थी, कि हिन्दुस्तान में एक हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने के लिये हम लोग प्राणपण से अंत तक लड़ेंगे ? इस समय परमात्मा की हम लोगों पर कृपा है और हम अवश्य सफल होंगे।

शिवाजी की पवित्र लेखनी से निकले हुए "हिन्दवी स्वराज्य" के शब्दों ने इस धार्मिक आन्दोलन के ध्येय को जितना भलीभांति प्रकट किया उतना अन्य कोई वस्तु स्पष्ट नहीं कर सकती थी। इस आन्दोलन ने महाराष्ट्र-देशवासियों के जीवन और कार्य को सौ से अधिक वर्षों तक प्रोत्साहित किया रखा।

मरहठों का यह आन्दोलन प्रारम्भिक काल से ही व्यक्तिगत अथवा प्रान्तीय आन्दोलन न था, वरन् यह तो भारत के सारे हिन्दुओं का अपने धर्म तथा स्वत्व की रक्षा करने और भारतवर्ष से विधर्मियों के राज्य को नष्ट करके एक दृढ़ सुविशाल स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने के लिये एक आन्दोलन था।

देशभक्ति के इस भाव से केवल शिवाजी ही प्रोत्साहित न हुए थे वरन् उनके सारे मित्रों तथा महाराष्ट्र-वासियों के हृदय में भी किसी न-किसी अंश में अवश्य यह प्रोत्साहन पाया जाता था। उनके हृदय को भी वह उतना ही प्रोत्साहित कर रहा था जितना कि शिवाजी के मन को-यही कारण है कि शिवाजी जहां भी पधारते थे उनका स्वागत एक प्रसिद्ध देशोद्धारक के रूप में श्रद्धापूर्वक किया जाता था।

कुछ लोग अभी तक मुसलमानों का साथ दे रहे थे और उनके पक्षपाती बने हुए थे, इसके कई कारण थे—(१) कई व्यक्तियों के हृदयों में मुसलमानों की धाक जमी हुई थी, उनका यह विचार था कि इस बादशाही के सामने मरहठों का आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता। (२) कुछ मिथ्याभिमानी तथा बहुत विचारवान् लोग शिवाजी जैसे अनुभवहीन नवयुवक नेता की अध्यक्षता में काम करना अपनी अप्रतिष्ठा समझते थे तथा (३) कुछ ऐसे भी स्वार्थी लोग विद्यमान थे, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिये यवन राज्य का चिरस्थायी रहना ही परमावश्यक समझ रक्खा था।

शिवाजी महाराज उस समय केवल महाराष्ट्रवासियों के ही प्रमुख नायक न थे, वरन् वे सारे दक्षिण और उत्तरी भारतवर्ष के हिन्दुओं के मनोरथ पूर्ण करने वाले शूरवीर अगुवा समझे जाते थे। लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि एक दिन ऐसा आयेगा जब कि यही महावीर हिन्दू-जाति तथा भारतवर्ष को स्वतन्त्र करने के यश को प्राप्त करेंगे।

उस समय का इतिहास और साहित्य ऐसी बहुत सी घटनाओं तथा गद्यांशों से भरा पड़ा है, जिनके पढ़ने से यह पता लगता है कि लोग शिवाजी, महात्मा रामदासजी तथा उनके वंशजों को, उनके उद्देश्यों और कार्यों के कारण, अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते थे। सारे प्रान्तों और नगरों के लोगों की यह प्रबल इच्छा थी, और वह इस बात पर ज़ोर भी देते थे, कि मरहठा सेना शिवाजी के नेतृत्व में उनके यहां आये, तथा वे उस शुभ दिन की प्रतीक्षा में रहते थे कि कब मुसलमानों के झण्डे को फाड़ कर उसकी जगह महाराष्ट्र की पवित्र गेरुआ विजय-ध्वजा उड़ती दिखाई दे।

इस कथन को प्रमाणित करने के लिए हम "सवनूर" निवासी हिन्दुओं का शिवाजी के नाम भेजे हुए हृदयविदारक पत्र का दृष्टान्त देते हैं। यह पत्र उन्होंने उस समय शिवाजी को भेजा था जब कि उस प्रांत के

हिन्दु यवनों के शासन को अधिक काल के लिये सहन न कर सके। इस पत्र में उन लोगों ने धर्मान्ध, अन्यायी यवनों के शासन का रोमांचकारी नग्न चित्र खींचते हुए लिखा था—'हम लोग विधर्मियों के निर्दयी राज्य से अत्यन्त पीड़ित हैं। हमारा धर्म उनके पैरों तले कुचला जा रहा है, और मिट्टी में मिलाया जा रहा है। इस लिये हे हिन्दू-धर्म के रक्षक! दुष्टों का दमन करने वाले! विदेशी राज्य को धूल में मिलाने वाले शिवाजी महाराज! आइये, शीघ्र आइये, हम लोग इस समय सेनापति यूसुफ तथा उनकी सेना के अधीन हैं। हमारा धन जन इन्हीं के हाथ में है। इसने हमें अपने ही घरों में बैंदी बना रखा है। द्वार पर कठिन पहरा बिठा दिया है। हमारा अन्न जल रोक कर वह हमें भूखों मारने का प्रयत्न कर रहा है। इसको मालूम हो गया है कि हम लोग आपसे सहानुभूति रखते हैं और आपके बुलाने के लिए षडयन्त्र रच रहे हैं। इसलिये हम दीन हिन्दुओं पर दया कर, रात को दिन समझें और जितना शीघ्र हो सके आकर हमें काल के गाल से छुड़ाने की कृपा करें।'

महाराष्ट्र की सीमा के बाहर वाले हिन्दुओं के आर्त्तनाद ने शिवाजी के हृदय पर कैसा प्रभाव डाला, यह लिखना व्यर्थ है, क्योंकि जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ही हिन्दू-धर्म की रक्षा करना था, वे भला ऐसे अवसर पर कैसे विलम्ब कर सकते थे। शीघ्र ही मरहठों का प्रसिद्ध सेनापति हम्मीरराव अपनी सेना लेकर वहां जा पहुंचा और उसने बीजापुर की यवन सेना को कई युद्धस्थलों पर पूर्ण रूप से पराजित किया और हिन्दुओं को मुसलमान अन्यायियों के चंगुल से छुड़ा कर उस प्रांत को म्लेच्छ शासन से मुक्त करा दिया।

पूना और सूपा की छोटी जागीरों का उचित प्रबन्ध करके, तथा अपने बारह मावलों (ज़िलों) को पूर्ण रूप से सङ्गठित करने के अनन्तर, शिवाजी ने लगभग १६ वर्ष की अवस्था में अपने कुछ चुने हुए प्रमुख वीरों की सहायता से उस प्रान्त के तोराना और दूसरे प्रसिद्ध

२ किलों पर अचानक चढ़ाई कर दी और बड़ी वीरता और निपुणता के साथ लड़ कर उन्हें हस्तगत कर लिया। बीजापुर की सेना पर—जो कि सेनापति अफजलखां की अध्यक्षता में लड़ रही थी—भली प्रकार दोटूक विजय पा कर मुगलों का खुल्लम खुल्ला सामना करना आरम्भ कर दिया।

शिवाजी अपनी चतुराई से कभी पीछे हटते और कभी अचानक शत्रुओं पर चढ़ आते थे। इस प्रकार अनेक मुग़ल सरदारों और सेनापतियों का दमन कर उन्हें लड़ाई में सब प्रकार से नीचा दिखा कर पीछे हटाते रहे। इस प्रकार शत्रुओं के दिल में इतना भय समा गया कि शाहंशाह औरङ्गज़ेब ने भी भयभीत होकर थोड़े काल के लिए युद्ध बन्द करने में ही अपनी बुद्धिमानी समझी और अपने अजेयशत्रु शिवाजी को प्रलोभन आदि द्वारा जाल में फँसाने का निश्चय किया। परन्तु शिवाजी औरङ्गज़ेब के कपट जाल में कब आने वाले थे? उन्हों ने शत्रु के कपट जाल को तोड़ दिया और उसकी आशा को सब प्रकार निराशा में पलट दिया अर्थात् आगरे के क़ैदखाने से बिना किसी हानि उठाये निकल भागे और सकुशल रायगढ़ पहुंच कर मुगलों से पुनः घोर लड़ाई छेड़ दी। शिवाजी ने सिंहनाद के दुर्ग को पुनः हस्तगत कर लिया। कई अन्य सेनापतियों ने भी मुसलमानों के छक्के छुड़ा कर यश प्राप्त किया। अन्त में शिवाजी ने अपना राज्यभिषेक करा कर हिन्दुओं का छत्रपति—अर्थात् हिन्दूधर्म और सभ्यता का अभिनेता—बनने में ही अपना हित समझा। विजयनगर के पतन के पश्चात्, किसी भी हिन्दू-राजा को यह साहस न हुआ था कि वह स्वतन्त्र-छत्रपति के मुकुट से अपने सिर को पुनः सुशोभित करे। अब शिवाजी के नवीन राज्यभिषेक ने मुसलमानी धाक को समूल नष्ट कर दिया। इसके पश्चात् होने वाली किसी भी लड़ाई में मुसलमान हिन्दुओं का सामना न कर सके।

उपरोक्त घटनायें स्वयम् उनके कार्यकर्ताओं के लिये भी आश्चर्य-जनक थीं। उस समय के सब प्रतिष्ठित और हिन्दू-धर्म की स्वतन्त्रता

के भविष्यवक्ता, पूज्यपाद स्वामी रामदास जी बड़ी प्रसन्नता तथा गौरव के साथ एक स्वप्न के सम्बन्ध में कहते हैं, "कि जो कुछ मैंने स्वप्नावस्था में देखा था उसकी पूर्ति पहले ही हो गई थी। जिस स्वप्न को मैंने अन्धकारपूर्ण रात्रि में देखा था वह अक्षरशः सत्य निकला, अर्थात् भारत की निद्रा भङ्ग हुई, लोग अपने आपको पहचानने लगे। जो भारत से घृणा करते थे तथा ईश्वर के प्रति अपराध करते थे उनको दृढ़ हाथों से कुचल दिया गया। सचमुच भारत पवित्र और भाग्यशाली देश है। क्योंकि भारत के ध्येय को परमात्मा ने अपना ध्येय बना लिया है इस लिये औरङ्गजेब का पतन हो जायगा। जो लोग सिंहासन पर विराजते थे वे पदच्युत हो गये और जो किसी समय राज्यसिंहासन से उतारे गये थे पुनः सुशोभित हो गये। मनुष्यों का श्रेय, शब्दों की अपेक्षा उनके कर्त्तव्यों से भलीभांति विदित होता है। सचमुच भारतवर्ष एक पवित्र पुण्यक्षेत्र है, इसके धर्म की रक्षा अब राजधर्म से होगी। अब राक्षसी-शक्ति द्वारा देश का पावन जल अपवित्र नहीं होता रहेगा और एक बार पुनः इस पुण्य भूमि पर हमें यज्ञ पूजनादि कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।" यह धर्मयुद्ध परमात्मा के नाम पर आरम्भ किया गया था। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए जब महाराज शिवाजी एक स्वतन्त्रराज्य को स्थापित करने में फलीभूत हुए तो उन्होंने इस ईश्वरदत्त राज्य को अपने अध्यात्मिक तथा राजनैतिक पथप्रदर्शक गुरु स्वामी रामदासजी के चरणों में श्रद्धापूर्वक भेंट के रूप में अर्पण किया। किन्तु स्वामी जी ने भी उसी ध्येय को स्मरण कर उक्त राज्य अपने सुयोग्य शिष्य शिवाजी को मनुष्य-जाति के उपकार तथा ईश्वरीय धर्म की रक्षाहेतु प्रसादरूप में निछावर किया और कहा—

राज्य शिवाजी चें नव्हे—राज्यधर्माचें आहे। ❀

महाराज शिवाजी से लेकर बाजीराव तक कर्मवीर मरहठों के

❀ राज्य शिवा जी का नहीं है, किन्तु धर्म का है।

प्रति सारे भारतवर्ष के हिन्दुओं की कैसी श्रद्धा थी और उनके किये कर्मों पर जीतना वे अपना गौरव समझते थे वह "छत्र-प्रकाश" नामक वीररस पूर्ण ग्रन्थ के पढ़ने से स्पष्ट विदित हो जाता है, यद्यपि इसका लेखक बुन्देलखण्ड-वासी हिन्दू था। एवं राजकवि "भूषण" ने भी महाराज शिवाजी की वीरता का वर्णन जिस ओजस्विनी कविता में किया है उस से स्पष्ट प्रकट होता है कि उपरोक्त कविगण महाराष्ट्र के रहने वाले न होकर उनके चरणों में कैसी भक्ति रखते थे। इतना ही नहीं, भूषण कवि तो महाराज शिवा जी के कर्तव्यों को भावपूर्ण कविता में गाकर घूम-घूम कर हिन्दू जाति को जगाते फिरते थे और उसके हृदयों में शिवा जी के प्रति यह भाव उत्पन्न करते थे कि महाराज शिवाजी हिन्दूधर्म के रक्षक हैं। इसी कारण से उनके पवित्र कर्त्तव्यों को सारे भारतवासी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। स्थानाभाव से केवल एक आध पंक्ति उदाहरणार्थ लेखनीबद्ध की जाती।

कासीहू की कला जाती, मथुरामसीत होती।
सिवाजी न होतो तो, सुनति होत सबकी ॥
राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
स्मृति और पुराण राखे वेद-विधि सुनी मैं ॥
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राखो, राख्यो गुन गुनी में ॥
"भूषण" सुकवि जीति हद मरहठन की,
देश-देश कीरति बखानी तव सुनी मैं ॥
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके दिवाल राखी दुनी में ॥

इस प्रकार हिंदु धर्म और हिंदु-पद-पादशाही के नाम पर यश पैदा करने वाला आह्वान और युद्ध-संगीत जो महाराष्ट्रीय दुंदुभी से निकला वह सह्याद्रि पर्वत की चोटी से निकल कर सारे भारतवर्ष के

हिन्दुओं के हृदय में भर गया, जिससे उनका हृदय उत्साह से उछलने लगा। परिणामतः वे अनुभव करने लगे कि जिस अभिप्राय से मरहठे लड़ कर प्राण निछावर कर रहे हैं उसका अस्तित्व केवल भारत और भारतवासियों को विदेशियों के दासत्व से मुक्त कराने के लिए ही है।

३.
शिवाजी के उत्तराधिकारी

सन् १६८० ईस्वी में महाराज शिवाजी का और १६८१ ई० में महात्मा रामदासजी का देहान्त हो गया। यद्यपि इन लोगों ने अपने जीवनकाल में "हिन्दू-पद पादशाही" के लिए घोर परिश्रम करके बहुत कुछ प्राप्त कर लिया था तथापि अभी तक उससे भी अधिक बहुत कुछ प्राप्त करने के लिये शेष पड़ा था। ऐसे अवसर पर उन लोगों की मृत्यु इस आन्दोलन के लिए बड़ी ही हानिकारक थी। जो हो, "ईश्वरेच्छा गरीयसी !!"

यद्यपि उन महापुरुषों के सांसारिक जीवन का अन्त हो गया तथापि इन्होंने जिस आन्दोलन को सारे भारत में प्रचलित किया था उसका अन्त किसी भी अंश में न होने पाया, क्योंकि इस आन्दोलन का आधार किसी व्यक्तिविशेष के जीवन पर अवलम्बित न था, वरन् इसकी जड़ें राष्ट्रजीवन के गर्भ में गड़ चुकीं। यह मरहठों के इतिहास की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, जिसे हम उन पाठकों के चित्त पर अङ्कित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो महाराष्ट्र प्रान्त निवासी नहीं हैं। महाराज शिवाजी तथा उनके पूज्य गुरु स्वामी रामदास जी के जीवनचरित को प्रायः सारे भारतवासी कुछ-न-कुछ अवश्य ही जानते हैं, पर महाराष्ट्र के इतिहास के पिछले भाग से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं और यदि किसी अंश में कुछ जानते भी हैं तो निराधार तथा

अनिश्चित समझते हैं। साधारणतः भारतवर्ष या हिन्दु इतिहास पढ़ने वाले यही अनुभव करते हैं कि शिवाजी तथा रामदास ही पहले और आखिरी मरहठा देश-भक्त हुये हैं, जिनका मनशा भारत में "हिन्दु-पद पादशाही" स्थापित करने का था, और जिन्होंने कि हिन्दुत्व के लिए बड़ी शूरता, वीरता तथा अपने अपूर्व साहस का परिचय दिया था। इतना ही नहीं, अपितु महाराष्ट्र के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा दिखाई पड़ती है कि जहां महाराज शिवाजी के प्रादुर्भाव के साथ महाराष्ट्र का इतिहास प्रारम्भ हुआ वहां इनके निधन के साथ ही इस आन्दोलन की इतिश्री भी हो गई। और उनके पश्चात् जो कुछ हुआ वह एक अशांति का समय था, अथवा स्वार्थान्ध और आचार-भ्रष्ट लोग लुटेरों का दल बनाकर इधर-उधर लोगों पर आक्रमण करते हुए देश का सत्यानाश करते रहे। ये दोनों की कल्पनाएं नितांत ही असत्य हैं। तथ्य तो यह है कि शिवाजी तथा रामदास की बड़ाई तो इसी बात में निहित है कि उनका वह आन्दोलन उनकी मृत्यु के पश्चात भी न केवल बहुत काल तक जीवित रहा, वरन् उनके पश्चात् भी उसके कारण सैकड़ों ही महाराष्ट्र के सुयोग्य देशभक्त, व्यवस्थापक और देश पर प्राणों की आहुति चढ़ाने वाले शूरवीर सरदार एक न टूटने वाले क्रम में पैदा होते रहे। वे उसी उद्देश्य के लिए अपने पूर्णबल से लड़ते हुए हिन्दू-पद-पादशाही के लक्ष्य की ओर बढ़ते गये और उन्होंने ऐसे शानदार परिणाम प्राप्त किये जिन्हें देखकर शिवाजी महाराज भी चकित होजाते। जिस समय शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ था उस समय उनके अधिकार में मुशकिल से एक प्रान्त था, इस पर भी उस समय यह एक बड़े गौरव की बात समझी गई थी। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वास्तविक गौरव महाराष्ट्र का तब स्थित हुआ जबकि महाराज शिवाजी के उत्तराधिकारी राघुवा दादाजी के आधिपत्य में, पञ्जाब की राजधानी लाहौर में धूमधाम से प्रविष्ट हुये, और फिर जब उनके बहादुर घोड़े उछलते कूदते अपनी

टापों से धूल उड़ाते, विजय प्राप्त करते, सिन्ध के किनारे तक पहुंचे अर्थात् जब एक महादेश को उन्होंने अपनी छत्रछाया में कर लिया।

शिवाजी के देहान्त के समय मुग़ल बादशाह औरङ्गज़ेब जीवित था। उसके हृदय में हिन्दुओं के प्रति घृणा के भाव भी वर्तमान थे। इन घृणा के भावों का सत्यानाश करने के लिये शिवाजी ने आजन्म सुख की नींद न ली थी और उनकी यह उत्कट इच्छा उनके साथ स्वर्गगामिनी हुई। किन्तु शिवाजी की उत्तराधिकारिणी महाराष्ट्र जाति ने अपने पूर्वजों पर किये गये विधर्मियों के अत्याचारों का बदला ब्याज सहित उन से लिया और औरङ्गज़ेब को, उसके हिन्दुओं के प्रति घृणा के भावों सहित अहमदनगर की क़ब्र में दफ़न किया तथा हिन्दू-धर्म को काल के गाल से छुड़ाया। ज़रा ध्यान दीजिये कि यदि ऐसा न हुआ तो जो राज का बीज रायगढ़ में शिवाजी के हाथों बोया गया था, वह कभी भी एक विशाल वृक्षरूपी राज्य के स्वरूप में दिखाई न देता, वरन् निरर्थक भूल की धूल में नष्टभ्रष्ट हो जाता और कभी फूल और फल न सकता। शिवाजी महाराज ने तो केवल रायगढ़ पर राज्य किया, पर उनके उत्तराधिकारियों के लिये भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली पर राज्य करने के दिन सन्निकट थे। यह कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि यदि धानाजी, सन्ताजी, बालाजी, बाजीराव, भाऊ, मलहरराव, दत्ताजी, माधवराव, परशुरामपन्त और बापू जी जैसे महान् व्यक्ति क्रमशः समयानुकूल अपना सिर न उठाते और रणक्षेत्र में अपना कौशल न दिखाते तथा देश और धर्म के लिए बलिदान न देते, तो महाराज शिवाजी का मनोरथ अधूरा ही पड़ा रहता और जो उन्होंने अपने जीवन में सफलता प्राप्त की थी वह जनसमाज में वैसी ही साधारण हो जाती जैसी कि पटवर्द्धन या बुन्देलाराज्य स्थापित करने वाले नेताओं की हुई, तथा हमें हिन्दू-इतिहास में शिवाजी को ऐसे अनुपम प्रतिष्ठा और गौरवपूर्ण पद पर आरूढ़ देखने का अवसर न मिलता।

शिवाजी के एक अपूर्व शक्तिशाली पुरुष होने का मुख्य कारण यह था कि उनके सजातीय लोग आजन्म उनका साथ देते रहे, उनके साथ सर्वदा सहानुभूति रखते आये और जिस कार्य को शिवाजी लेकर कार्यक्षेत्र में उतरे, उसको सफल बनाने के लिए तनमन से प्रयत्न करते रहे तथा उनकी प्रबल आशा और इच्छा को समयानुकूल प्राणप्रण से पूर्ण करते रहे। इस प्रकार हमें आगे चलकर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि महाराष्ट्र का इतिहास शिवाजी के मृत्युकाल से प्रारम्भ होता है। शिवाजी ने अपने जीवन काल में एक छोटे से प्रदेश की नींव डाली थी, पर उसका विशाल राज्य में परिणत करने का काम उनके उत्तराधिकारियों का था, जिसकी पूर्ति, महाराज के परलोकवासी होने के पश्चात् हुई या यों कहना उपयुक्त होगा कि महाराष्ट्र के वीर रस प्रधान इतिहास का आरम्भ उस समय हुआ जब कि शिवाजी हिन्दु जाति में महान् शक्तियां उत्पन्न करने के पश्चात परलोकवास कर गये। ये शक्तियां उनके पश्चात् बड़े वेग से काम करती रहीं।

४.

"धर्मासाठीं मरावें"* —रामदास

महाराष्ट्र धर्म, और उस धर्म के द्वारा महाराष्ट्र में हिन्दुओं के पुनरुद्धार के आंदोलन में भरी हुई शक्ति के विषय में औरङ्गज़ेब ने जो अनुमान लगाया था वह अक्षरश: असत्य निकला। उसका विचार था कि जैसे अनेकों दूसरे आन्दोलन अपने नेताओं की मृत्यु के पश्चात् समाप्त होजाते हैं उसी प्रकार इस आंदोलन का भी शिवाजी की मृत्यु के बाद अन्त हो जायगा, विशेषकर ऐसी अवस्था में जब कि उनका उत्तराधिकारी उनका अयोग्य पर वीरपुत्र संभाजी बना। इसलिये औरङ्गज़ेब ने ऐसे अवसर

* धर्म के लिए मरो।

को हाथ से न जाने देने का निश्चय किया। काबुल से लेकर बङ्गाल तक फैले हुए साम्राज्य के जन-धन के विस्तृत साधन उसके अधिकार में थे। अतः वह तीन लाख की सेना लेकर दक्षिण में चढ़ आया। शिवा जी को भी कभी अपने जीवन काल में तनी सेना का सामना न करना पड़ा था। औरङ्गज़ेब ने अन्दाज़ा लगाने में भूल नहीं की थी, क्योंकि सारे मुगल साम्राज्य की यह सुसङ्गठित शक्ति मरहठों की ऐसी असङ्गठित रियासत से दसगुना बड़े राज्य का भी अनायास नाश कर सकती थी। मुग़लों की ऐसी सुसङ्गठित शक्ति का मुक़ाबला करने के लिए मरहठों को ऐसा नेता मिला जो कि एक महान् राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने के नितांत अयोग्य था। सम्भाजी अयोग्य ही नहीं वरन् दुष्ट प्रकृति भी था, और इन उपरोक्त अवगुणों के होते हुए भी, सम्भाजी ने अपने मरणकाल तक ऐसी निर्भीकता दिखाई जो उसके सारे अवगुणों को मिटाकर उसे शिवाजी का एक सुपुत्र तथा हिन्दू-आन्दोलन का एक महान् व्यक्ति प्रमाणित करती है। जिस समय वह औरङ्गज़ेब के दरबार में एक विवश क़ैदी के रूप में खड़ा था और विधर्मी उसे मुसलमान हो जाने के लिए विवश कर रहे थे, कदाचित उस जैसी बुरी प्रकृति वाला पुरुष मृत्यु के भय से तथा दुष्टों के लोभ या यातना से अपने धर्म को तिलांजलि देने में ज़रा भी नहीं हिचकता, पर वाह रे सम्भाजी! यह तुम्हारा ही दृढ़हृदय था, जो ऐसे सङ्कटमय समय आ पड़ने पर भी तुमने शत्रुओं को भरे दरबार में निर्भयता पूर्वक मुहतोड़ जवाब दिया और इस घृणय कर्म की उपेक्षा करके मृत्यु का आनन्दपूर्वक हंसते २ स्वागत किया, और अपने पूर्वजों की धर्मभक्ति का पूर्ण समर्थन किया तथा अन्यायी मुसलमानों के ज्ञान तथा उनकी धर्मपुस्तकों की घोर निन्दा की जिससे औरङ्गज़ेब को अनुभव हो गया कि वह इस मरहठे शेर को क्षुद्र कुत्ते की तरह वशीभूत नहीं कर सकता। अन्ततः उसने अपने सारे प्रयत्नों को विफल होता जान कर आज्ञा दी कि इस काफ़िर को मार डाला जाए। औरङ्गज़ेब

की यह अन्तिम धमकी भी उस धर्मवीर को अपने धर्म से विचलित न कर सकी। अन्यायियों ने लोहे के गरम चिमटे से संभाजी की आँखें निकाल लीं, उसकी जिह्वा के टुकड़े २ कर दिये। परन्तु फिर भी वे उस शाही शहीद को भयभीत न कर सके। अन्त में उसके पञ्चभौतिक शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये। इस प्रकार वह मुस्लिम धर्मान्धता का शिकार बन गये और अपने बलिदान से हिन्दुओं के लिए अमरकीर्ति प्राप्त कर गए। अपने इस एक आत्म-बलिदान के महाकार्य से संभाजी ने महाराष्ट्र धर्म—हिन्दु जाति के पुनरुद्धार के धर्म—की वृत्ति का जो प्रतिनिधित्व किया वह किसी अन्य कार्य द्वारा नहीं हो सकता था। यदि वह लुटेरों का नेता होता तो उसका कार्य निश्चित ही इसके विपरीत होता। वाह रे संभाजी! तुम्हारी इस धर्म-परायणता पर सौ-सौ बार धन्यवाद है। हिन्दूजाति तुम्हारी सदा के लिए ऋणी रहेगी। ईश्वर तुम्हारी आत्मा को शान्ति दे और भारत के धर्माकाश में तुम्हारी कीर्ति अनन्तकाल तक सूर्य की तरह प्रकाशित रहे और हिन्दु धम के लिए महान् गौरवप्रद और पथप्रदर्शक सिद्ध हो।

संभाजी के कारण शिवाजी के द्वारा उपार्जित राज्य छिन गया। राजकोष खाली हो गया किले शत्रु के हाथों लुट गये और नष्ट-भ्रष्ट किए गए और यहाँ तक कि उनकी राजधानी भी मुसलमानों के हाथों में चली गयी। वह इस होनी को रोक न सका।

इस प्रकार वह अपने पिता की आजन्म की कमाई की रक्षा न कर सका। परन्तु उसने अपने महा बलिदान के द्वारा अपने पिता के धार्मिक तथा अध्यात्मिक लाभों की दीप्ति और शक्ति की रक्षा ही नहीं की अपितु वृद्धि भी की। इस प्रकार हिन्दूधर्म की स्वतन्त्रता की लड़ाई का वृक्ष उसके रुधिर से सींचा जाकर विशेष सशक्त और हराभरा हो गया।

५.

सम्भाजी की मृत्यु का बदला

"मरोनि अवध्यांसि मारावें। मारितां मारितां ध्यावें। राज्य आपुलें"

—रामदास

राजकुमार सम्भाजी के धर्म पर बलिदान हो जाने का समाचार ज्यों ही महाराष्ट्र वासियों के कानों में पहुंचा त्यों ही सब के भाव उनके प्रति शीघ्र ही बदल गये अर्थात् उनके आजन्म के किए बुरे कर्मों तथा अपराधों को सभी भूल गये। अपने राजकुमार के प्रति उनमें विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उनकी धमनियों में रक्त खौलने लगा और शत्रुओं से राजकुमार की हत्या का बदला लेने के लिए सभी कटिबद्ध हो गये। धन और साधनों के अभाव में भी उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का सङ्कल्प कर लिया। सब ने एकत्रित होकर शिवा जी के द्वितीय पुत्र राजाराम को अपना अगुआ एवं राजा मान कर हिन्दू धर्म और हिन्दू राज्य की रक्षा के लिये मर मिटने की शपथ ली। समर्थ गुरु रामदास जी की शिक्षायें—

'धर्मासाठी मरावें, मरानि अवध्यांसि मारावें ॥
मारितां मारिता ध्यावें। राज्य आपुलें ॥१॥
मराठा तितुका मेलवावा। आपुला राष्ट्रधर्म वाढवावा ॥
येविशीं न करितां तकवा। पूर्वज हासती ॥२॥ ॐ

मरहठे उनकी मृत्यु के पश्चात् भी न भूले, वरन् जाति के लिए वे जीता-जागता धर्म बन गयीं। राजाराम, नीलोमुरेश्वर, प्रह्लाद नीराजी,

---

ॐ धर्म के लिये मरो, मरते मरते भी शत्रुओं का संहार करो, राज्य प्राप्ति के लिये मर भी जाओ, मरहठों को संगठित करो, राष्ट्र धर्म को बढ़ाओ। अपने इस कर्तव्य से च्युत होने पर पूर्वजों के परिहास पात्र बनोगे—"

रामचन्द्र पन्त, शङ्कर जी मल्हार, परशुराम त्र्यम्बक, सन्ता जी घोरपाड़े, धानाजी यादव, खन्डेराव दभाड़े, निम्बालकर नेमाजीपरसोजी, ब्राह्मण आदि मरहठे, नेतागण तथा राजकुमार और किसान—अथवा यों कहिये कि सारी जाति ही मुसलमान शत्रुओं के विरोध में सशस्त्र खड़ी हो गई।

उस समय तक पुनः सारा दक्षिण औरङ्गजेब के अधीन हो चुका था। सारा महाराष्ट्र, इसके प्रसिद्ध किले, यहाँ तक कि स्वयं शिवाजी की पवित्र राजधानी भी मुसलमान सेनापतियों के सैनिक शासन के हाथों दु:खित हो रही थी। यही जान पड़ता था कि शिवाजी तथा उनके वंशजों ने व्यर्थ ही इसके लिये लड़ कर अपने प्राण गंवाये थे। लेकिन किले और राजधानी पास नहीं तो क्या हुआ! जो जाति अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखती हो, वह अपना किला अपने हृदय में बना सकती है। उसका उच्च आदर्श ही जातीय ध्वजा का काम देता है और जहाँ कहीं जाकर फहराता है, वहीं उसकी राजधानी बन जाती है। इस उच्च विचार ने सारे महाराष्ट्र-वासियों के हृदय में एक नवीन ज्योति पैदा कर दी। उन्होंने युद्ध को एक क्षण को भी बन्द न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और वे कहने लगे—"यदि हम लोगों के हाथ से महाराष्ट्र खो गया है तो क्या हुआ, चलो मद्रास में चलकर लड़ाई छेड़ें। यदि रायगढ़ हाथ से निकल गया है तो हिन्दू-पद-पादशाही का झण्डा जिनजी में चलकर गाड़ दें और लड़ाई एक दिन के लिए बंद न करें।" इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा करके, मरहठे मुगल-सम्राट-औरङ्गजेब की विशाल सेना से लगभग २० वर्ष तक लड़ते रहे, अंत में उसे निराश और हारकर महाराष्ट्र तथा दक्षिण से भाग जाने पर विवश होना पड़ा, इसी शोक में दुखी होकर वह सन् १७०७ ईस्वी के साल अहमदनगर में मर गया।

मरहठों की अद्भुत युद्ध-कला जिसे "गानिमी कावा" कहते हैं, इस लम्बी लड़ाई में विशेष लाभदायक सिद्ध हुई। बिजली की तरह चञ्चलता, वीरता और साहस के साथ मरहठा सेना, अद्वितीय सेनापतियों

की अन्यक्षता में कभी एकत्रित होतीं, कभी छिटपुट रहती, कभी आक्रमण करती, कमी पीछे हट जाती; कभी आगे बढ़ती, कभी पीछे पांव धरती; कभी लड़ती, कभी भागती, कभी लड़ाई में पांव जमाती। इस युद्ध-कौशल ने मुग़लों को खूब सताया और उन्हें हर जगह से दुम दबा कर भाग जाना पड़ा।

इस प्रकार विचित्र लड़ाई लड़कर मरहठों ने मुग़लों के साहस को चूर्ण कर धूल में मिला दिया। प्रत्येक नामी मुसलिम सेनापति और नायक को या तो परास्त किया गया या अपमानित किया गया। उन्हें या तो कैदी बना लिया अथवा मार डाला गया। ज़ुलफ़िक़ार खां, अली मर्दान खां, हिम्मत खां और कासिम खां आदि मुग़ल सेनापतियों को मरहठे सरदारों धानजी, सन्ताजी आदि ने जिनजी, कावेरीपाक, दुधारी और दूसरे अन्य युद्धस्थलों में ऐसी बुरी तरह हराया कि उनकी सेना छिन्न-भिन्न हो गई जिससे मुग़ल बादशाह औरङ्गज़ेब को महाराष्ट्र विजय करने की इच्छा फिर स्वप्न में भी न हुई।

इस प्रकार मरहठे शत्रुओं का दमन करते हुए आगे बढ़े और उन्होंने मुग़लों की शाही छावनियों पर धावा बोल दिया, दूसरे शब्दों में उन्होंने सिंह को उसकी मांद ही में जाकर ललकारा। बादशाह ज़िन्दा ही पकड़ा जाता, यदि भाग्यवश अपने बादशाही सुनहरे खेमे से भाग न गया होता। मरहठों ने खेमे पर अपना अधिकार कर लिया और उसे उखड़वा कर अपने साथ ले आये।

उस समय सभी मरहठे सेनापतियों के हृदय में देशभक्ति का अपूर्व उत्साह भरा हुआ था, जो निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जायगा—

प्रसिद्ध सेनापति खाण्डोबलाल ने उन मरहठा सरदारों को, जो कि अभी जिनजी को घेरने में मुग़लों का साथ दे रहे थे, अपनी ओर मिलाने का कठोर परिश्रम और प्रयत्न किया। परोक्ष रीति से उन्होंने नागोजी राजे के साथ, उसे अपनी ओर करने के लिए, पत्र-व्यवहार

आरम्भ कर दिया। पत्र में उसे भली भांति समझाया गया कि यदि आप राजाराम से आकर मिल जायं तो हम लोग अनायास मुग़ल सेना का जिनजी में सत्यानाश कर सकते हैं। दूसरे यह आपका परम कर्त्तव्य भी है कि आप मरहठों की सहायता करें जो कि अपने पूर्वजों के धन और देश की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

वीर नागोजी राजा ने मरहठों की उक्त प्रार्थना को स्वीकर कर लिया और एक हिन्दू के नाते, अपना उचित कर्त्तव्य समझ, पांच हज़ार अनुयायियों के साथ मुसलमानी फौज से निकलकर मरहठों से आ मिला।

इसके पश्चात् खाण्ढोबलाल ने शिरका को भी, जो कि अभी तक मुग़लों की ओर ही था, मरहठों की ओर मिला लेने का दृढ़ निश्चय किया। परन्तु जब शिरका ने पत्र में पढ़ा कि राजाराम बड़ी आपत्ति में फंसा हुआ है, तो संभाजी द्वारा अपनी जाति पर किये गये अत्याचारों का स्मरण करके वह अति क्रोधित हो गया और पत्रोत्तर में उसने लिखा कि एक राजाराम ही क्या, यदि सारा भोंसला खानदान भी इस पृथ्वी पर से मिट जाय तो भी मुझे इसकी तनिक चिंता न होगी। क्या वह दिन भूल गये, जब शिरका लोग सम्भाजी का निशाना बन रहे थे और जहाँ कहीं पाये जाते, मार डाये जाते थे। मुझे उन दिनों का स्मरण करके अत्यन्त दुःख होता है। मैं तो भोंसलों के उन बुरे दिनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिन्हें देखकर मुझे शान्ति प्राप्त होगी।

इस प्रकार का पत्रोत्तर पाकर खाण्डोलालाल तनिक भी हतोत्साहित न हुआ और अपने विचार द्वारा पुनः प्रार्थया पत्र भेज कर उसने समझाया कि "ऐ मेरे प्रिय मित्र! सुनिये, आपका लिखना अक्षरशः सत्य है, पर यह बात भी तो सत्य है कि सम्भाजी ने केवल आप ही की जाति पर अत्याचार नहीं किया था वरन् हमारे परिवार के तीन व्यक्तियों को भी हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया था। उसकी चोट मेरे हृदय को उतना ही कष्ट पहुंचा रही है, जितना आपके हृदय को। पर इस समय की

समस्या किसी परिवार विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती और न ही हम लोग अपने स्वार्थ के लिये लड़ रहे हैं; न हम लोगों का उद्देश्य भोंसला या किसी और ही कुल को ऊँचा करने का है; वरन् एक हिन्दू प्रजातन्त्र-राज्य के हेतु प्राण दे रहे हैं—

"हिन्दून्च्या साम्राज्यासाठी आम्ही झटत आहों।" ॐ

शिरका का हृदय खाण्डोबलाल के पत्रोत्तर से द्रवित हो गया और उसकी जातीय भावनायें उद्बुद्ध हो गईं। उसके सामने जाति का गौरव नाचने लगा और वह इस जातीय अपील से प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसने व्यक्तिगत अपराधों और पारिवारिक झगड़े को भुला कर क्षमा प्रदान की। राजाराम को घिरी हुई मुग़ल सेना से छुड़ाने का वचन दिया और अपने वचनानुसार अनेक प्रकार की सहायता देकर राजाराम को मुग़ल सेना मुक्त कराकर विजेता के रूप में महाराष्ट्र पहुंचा दिया।

इस प्रकार केवल शिवाजी के पुत्र का ही नहीं, वरन् उनके पश्चात उनके वंशजों का भी हृदय देशभक्ति के उच्च भावों से भरा हुआ था। हिन्दू जाति की राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा धर्मरक्षा का पवित्र ध्येय सर्वदा उनके हृदय में विराजता था, इसी कारण वे विदेशी और असभ्य शत्रुओं के भयङ्कर आक्रमण से सदा सचेत रहकर अपने प्राण हथेली पर रख कर, हिन्दू धर्म की रक्षा करते रहे।

अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि क्या लुटेरे और बटमार भी ऐसे पराक्रमी शत्रुओं पर युद्ध में विजय प्राप्त कर सकते थे? कदापि नहीं! इस प्रकार सफलता प्राप्त करना उन सच्चे धर्मवीर मरहठों का ही काम था। यह धार्मिक वा जातीय शक्ति का प्रताप था जिसने उस समय के देशभक्तों को बहुत शक्तिशाली बना दिया और उन्हें देश को ऐसे खतरे से सुरक्षित रखने के योग्य बना दिया जिसका मुक़ाबला देश की कोई दूसरी शक्ति न कर सकती थी।

ॐ हिन्दुओं के साम्राज्य की स्थापना के लिए हम प्रयत्न कर रहे हैं।

६.

महाराष्ट्र-मण्डल

"आहे तितुकें जतन करावें । पुढें आणिक मेळवावें ॥
महाराष्ट्रराज्यचि करावें । जिकडे तिकडे ॥" * —रामदास

जिस समय औरङ्गज़ेब का जीवन, उसकी सारी आशा और इच्छाओं के नष्ट हो जाने के कारण, भार-सा हो रहा था और वह दुःख-सागर में गोते खा रहा था, उस समय मरहठों ने अवसर पाकर खान-देश, गोंडवान, बरार और यहां तक कि गुजरात आदि दूरस्थ प्रदेशों में युद्ध छेड़ दिया। उन्होंने शाहूजी को मुक्त करा लिया तथा दक्षिण के छः सूबों तथा मैसूर ट्रावनकोर आदि रियासतों से भी. उन्हें लड़ाई में हरा कर, "चौथ" और "सरदेशमुखी" वसूल करने लगे। अन्त में मुग़ल सम्राट् को झख मार कर महाराष्ट्र में मरहठों के स्वतन्त्र राज्य का स्वत्व मानना पड़ा। इससे मरहठों की शक्ति पहिले से अधिक बढ़ गई। इस प्रकार मरहठों को अपने घरों का उचित प्रबन्ध करने अपनी बिखरी हुई शक्तियों को सङ्गठित करने तथा व्यक्तिगत दलबन्दियों के भावों को मिटा कर सर्वसाधारण की इच्छानुसार, अपनी सारी स्वाभाविक और अनिवार्य कमज़ोरियों के होते हुए भी, एक सङ्गठित सूत्र में बांधने का सुअवसर मिल गया, जिसका फल ऐसा उत्तम निकला कि महाराष्ट्र-मण्डल या कौन्फिडरेसी-सच्चे अर्थों में "हिन्दू-पद-पादशाही" बन गई। यह केवल नाममात्र को ही नहीं वरन् वास्तविक रूप में सारे भारतवर्ष पर राज्य करने लगी।

जिन व्यक्तिगत त्रुटियों और दुर्बलताओं की ओर मैंने ऊपर सङ्केत किया है वे वास्तविक ही थीं, क्योंकि ऐसी त्रुटियाँ सारे हिन्दुओं के भीतर अब भी वर्त्तमान हैं। हम आगे चल कर पाठकों

* जो कुछ तुम्हारे पास है उसे बचाओ और उसकी वृद्धि के लिये प्रयत्न करो। सब ओर महाराष्ट्र साम्राज्य का प्रसार करो।

को एक-एक करके इनको बताने की चेष्टा करेंगे। सब भ्रमों को दूर करने के लिए यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि जितना उनके विषय में हमें ज्ञान है उतना और किसी को न होगा। जब हम उन महान् राष्ट्रीय तथा धार्मिक सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं तथा उनका प्रकटीकरण करते हैं जिन्हों ने मरहठा जाति को हिन्दू स्वतन्त्रता के युद्ध को जीतने के लिये प्रयत्नशील बनाया उस समय हम इस तथ्य को भुलाना या कम करके दिखाना नहीं चाहते कि कभी-कभी विशेष अवसरों पर व्यक्तिगत द्वेष की आग तथा स्वार्थ और लालच भी उनको अपने जातीय कर्तव्य तथा प्रवृत्ति से विचलित कर देता था। यदि उनमें ये अवगुण न होते तो वे मनुष्यों के स्थान पर देवताओं की जाति बन जाती। यदि हम उनके उस महान् कार्य्य के उच्च उद्देश्य की ओर ध्यान दें तथा उनके अपूर्व प्रयत्न और आत्म-समर्पण द्वारा प्राप्त सफलता में से उनकी व्यक्तिगत बुराइयों को भी कम करदें तो भी प्रत्येक देशभक्त हिन्दू उनके किए हुए कार्य्यों का अवश्य ही सराहन. करेगा।

मरहठा सरदार बालाजी विश्वनाथ अपने राज्य प्रबन्ध को सब प्रकार सुदृढ़ करके तथा अपनी सैनिक शक्ति को पूर्णतया सङ्गठित कर के इतना शक्तिशाली बन गया कि दिल्ली की शाही राजनीति में भी दखल देने का साहस करने लगा। उस समय उनको किसी भी मुसलमान शत्रु का भय न था, यहां तक कि स्वयं मुगल बादशाह भी अपने बागी सैनिकों तथा वज़ीरों से सुरक्षित रहने के लिए मरहठों से प्रार्थना करते थे और उनकी सहायता के भिक्षुक बने रहे थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मरहठों के आन्दोलन ने मुसलमानी साम्राज्य को जड़ से उखाड़ कर शक्तिहीन कर दिया था।

सन् १७१८ ईस्वी में बालाजी विश्वनाथ तथा दाभाडे ने सैय्यद बन्धुओं का पक्ष लेकर उनके मुसलमानी प्रतिद्वन्द्वियों के मुकाबले में ५०,००० मरहठे सिपाहियों के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया

क्योंकि सैय्यद् बन्धुओं ने पहले से ही सारे दक्षिण पर चौथ व सरदेश-मुखी वसूल करने का अधिकार मरहठों को दे दिया था।

हिन्दुओं की पचास हज़ार सेना को अपनी राजधानी में प्रवेश करते हुए देख कर दिल्ली के मुसलमानों की क्रोधाग्नि भड़क उठी और वे मरहठे-सरदार को मार डालने के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। उन्होंने यह निश्चय किया कि जिस समय बालाजी "स्वराज्य" तथा "चौथ" वसूल करने की सनद बादशाह से लेकर दरबार से निकले, उसी समय धावा करके उन्हें मार डाला जाये। लेकिन क्या मरहठे जासूस इन बातों से अनभिज्ञ थे? कदापि नहीं। ज्योंही उपर्युक्त समाचार मरहठों की सेना में पहुंचा त्योंही प्रसिद्ध सेनापति भानू अपने सरदार की रक्षा के लिये अपने प्राण देने के लिये कटिबद्ध हो गया अर्थात् यह निश्चय किया गया कि बादशाह से सनद लेकर बालाजी की पालकी किसी गुप्त राह से सेना में पहुंचाई जाय और भानू जी सजधज से बालाजी की पालकी में बैठ कर मुख्य द्वार से लौटें। अन्त में ऐसा ही किया गया। इधर मुसलमानों का क्रोध भरा झुण्ड बहुत देर से पेशवा की पालकी की तान में था। पालकी पर नज़र पड़ते ही वह झुण्ड एकाएक मधुमक्खियों की तरह उन पर टूट पड़ा और थोड़े से मरहठा सैनिकों के साथ आते हुए, भानूजी को, उन्हें बालाजी समझ कर, फौरन क़त्ल कर दिया।

बालाजी बादशाही सनद को कांख के नीचे दबाये हुए किसी गुप्त राह से सकुशल अपने खेमे में पहुंच गया। भानू जी के इस प्रकार निस्स्वार्थ आत्मसमर्पण ने अपने जातीय इतिहास की वीरता, गौरव, प्रताप और महत्व को चार चाँद लगा दिये। इस प्रकार के महत्वपूर्ण उदाहरणों को इस संक्षिप्त पुस्तक में जहाँ तहाँ दर्शाने का तात्पर्य यह है कि ऐसे जातीय और धार्मिक गौरव के थोड़े उदाहरण, रूखी समा-समालोचनाओं से भरी दर्जनों मोटी किताबों की अपेक्षा, पाठकों के लिये विशेष लाभदायक होंगे।

७

बाजीराओ का कर्मक्षेत्र में पदार्पण

दिल्ली से लौटते ही बाला जी विश्वनाथ का सन् १७२० में देहान्त हो गया और उसका लड़का बाजीराओ उनके स्थान पर, महाराष्ट्र-मण्डल का नेता बना। उन समय मण्डल के सभापति शाहू जी थे।

शिवाजी के पश्चात् बाजीराओ का राजनैतिक क्षेत्र में उतरना महाराष्ट्र के इतिहास की एक दृढ़ मेड़ बनाता है। यद्यपि बड़ी-बड़ी राजनैतिक समस्याएँ अभी भी अधूरी पड़ी थीं तथापि महाराष्ट्र को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी। मरहठे इतने शक्तिशाली और सङ्गठित हो चुके थे कि वे देश और धर्म को हर प्रकार की आपत्ति से सुरक्षित रख सकते थे, और यदि चाहते तो शाही राजनीति में उलझ कर केवल महाराष्ट्र-मण्डल पर ही सन्तोष करके भली भांति शांतिपूर्वक अकण्टक राज-सुख भोग सकते थे। यह भाव कई एक नेताओं के हृदय में उत्पन्न भी हुआ और इसे उन्होंने छत्रपति शाहूजी के मन पर बिठाने का प्रयत्न भी किया, किन्तु वे असफल रहे। अगर उनका यह प्रयत्न सारी जाति पर सफल भी हो जाता और वे उन लोगों को महाराष्ट्र सीमा के बाहर हिन्दुओं की स्वतन्त्रता की लड़ाई को रोकने के लिये उभारते भी, तो भी इस बात में शङ्का थी, कि जो कुछ उन लोगों ने विजय करके अपने अधीन किया था, उसका बहुत दिनों तक शांतिपूर्वक उपभोग कर भी सकते या नहीं। अथवा यदि वे महाराष्ट्र को सब प्रकार से सुरक्षित भी रख सकते और भारत के सभी दूसरे प्रान्तों से नाता तोड़ कर, एकान्त स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर भी पाते तो प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्हें ऐसा करना चाहिये था? क्या उन लोगों ने केवल क्षुद्र सांसारिक सुख और शान्ति के लिये ही लगातार तीन पीढ़ियों तक घोर लड़ाई करके खून की नदी बहाई थी? नहीं, ऐसी बात नहीं है और न ही ऐसा करना उनके लिये श्रेय था। क्या इसे सच्चा सुख कहा जा सकता था? नहीं,

नहीं कदापि नहीं। शिवाजी ने जिस हिन्दू-पद-पादशाही की नींव डाली थी, उसका उद्देश्य केवल महाराष्ट्र-मात्र के लिये ही न था, बल्कि सारे भारतवर्ष के लिये एक-सा था और उनके इसी पवित्र उद्देश्य के परिपोषक उनके सारे साथी थे। यह बात तो सच है कि महाराष्ट्र के हिन्दू विदेशियों के शासन से छुटकारा पा चुके थे, पर अब भी करोड़ों हिन्दू भिन्न भिन्न प्रान्तों में वर्तमान थे, जो विदेशियों के शासन से असन्तुष्ट और दुखी थे। गुरु रामदास ने तो यह उपदेश दिया था कि—"धर्मासाठी मरावें" (धर्म के लिए मरो) और इस बात पर उन्होंने शोक प्रकट किया था कि "तीर्थक्षेत्रें भ्रष्ट झाली!" (अर्थात् हमारे तीर्थस्थान अपवित्र किये गये हैं)। ऐसी दशा में मरहठे यदि अपने प्रान्त पर ही सन्तुष्ट हो कर बैठ जाते तो शिवाजी महाराज का उद्देश्य तथा महात्मा रामदासजी का पवित्र उपदेश निष्फल हो जाता और स्वर्ग में भी उनकी आत्माओं को शान्ति न मिलती। भला इस उच्च ध्येय को ध्यान में रखते हुए मरहठे क्योंकर चुप बैठ सकते थे जब कि यवनों की हलाली ध्वजा अब भी बड़े गौरव के साथ पवित्र काशी-क्षेत्र में विश्वनाथ के मन्दिर पर फहरा रही थी। फिर ऐसी दशा में हम किस प्रकार मान सकते हैं कि शिवाजी का हिन्दू-पद-पादशाही का आन्दोलन पूर्ण हो चुका था, जबकि दिल्ली में धर्मराज युधिष्ठिर के पवित्र सिंहासन पर मुग़ल विराज रहे हों।

मरहठे पनधारपुर के मुसलमानी राज्य को जीत कर वहां से हलाली ध्वजा को उखाड़ कर फैंक चुके थे और अब नासिक को धर्मान्ध मुसलमान अपमानित नहीं कर सकते थे। किन्तु उधर काशी, रामेश्वर, कुरुक्षेत्र और गङ्गा सागर की क्या दशा थी? इस बात पर ध्यान दीजिए वहां यवनों की ध्वजा उड़ रही थी। क्या ये तीर्थ उतने ही पवित्र न थे जितने कि पनधार और नासिक? उनके पूर्वजों की अस्थियां केवल गोदावरी में ही नहीं पड़ी थीं; बल्कि गङ्गा में भी पड़ी थीं। उनके देव-मन्दिर हिमालय से लेकर रामेश्वर तक और द्वारिका से लेकर जगन्नाथ

तन सारे भारत में फैले हुए थे। अतः स्वामी रामदास जी के कथनानुसार गङ्गा और यमुना का जल अब भी अपवित्र तथा पूजन कार्य के अयोग्य था, क्योंकि उन पर मुसलमान राजाओं की धार्मिक ध्वजा की छाया अभी तक पड़ती थी और इसी को देखकर स्वामीजी बड़े दुःख भरे शब्दों में कहा करते थे कि—"मुसलमान शक्तिशाली हैं और हिन्दू निर्बल हैं" किन्तु मरहठों को चाहिए कि "धर्म के लिए मरें, मरते मरते भी अपना राज्य ले लें और महाराष्ट्र साम्राज्य स्थापित करें और हिन्दू धर्म को जीवित करें।" क्या मुसलमानों का अन्यायपूर्ण शासन भारतवर्ष से उठ गया था ? क्या भारतवासियों के पांवों में पड़ी हुई गुलामी की जंजीरें कट गई थीं ? नहीं। जब तक मुसलमानों का प्रभुत्व सारे भारतवर्ष में चूर-चूर न हो जाता, तब तक हिन्दूधर्म के साम्राज्य का गौरव नहीं हो सकता। जब तक भारतवर्ष की एक इञ्च भूमि भी मुसलमानों के अधिकार में रहेगी, तब तक जिस कार्य के लिये शिवाजी तथा रामदासजी के वंशज मर मिटे थे, वह कार्य्य अधूरा ही समझा जायगा।

विचारवान और कर्मशील मरहठा नेताओं, योद्धाओं और ऋषियों ने जनता के सामने ये युक्तियां रखीं—"जब कि तुमने अपने मन में दृढ़ सङ्कल्प कर लिया है कि जब तक हिन्दुओं की गुलामी की बेड़ी टुकड़े २ नहीं कर डालते तब तक अपनी तलवार को म्यान में न रखेंगे, तब जब तक हिन्दू जाति बिना रोकटोक पूर्ण स्वतन्त्रता से अपने सारे धार्मिक कार्य नहीं कर सकती और जब तक एक विशाल शक्तिशाली हिन्दू राज्य स्थापित नहीं हो जाता तब तक तुम युद्ध बन्द करके कैसे शान्तिपूर्वक राजसुख को भोग सकते हो ? जब तक विश्वनाथ के पवित्र मन्दिर की जगह मसजिद दिखाई देती है, जब तक मुसलमानों के घुड़सवार बेरोक-टोक सिन्धु नदी को पार करते रहेंगे और जब तक उनके जहाजों की पालें हिन्द महासागर में उड़ती रहेंगी; तब तक क्या तुम इस धर्मयुद्ध से कभी मुँह मोड़ सकते हो ? इस धर्मयुद्ध का अन्त

किसी व्यक्ति-विशेष या किसी एक प्रान्त की सुख-शान्ति पर निर्भर नहीं है, बल्कि इसका अन्त सारे भारतवर्ष में एक महान् हिन्दू-साम्राज्य एवं "हिन्दू-पद-पादशाही" के स्थापित होने के साथ होगा। इस लिये हे महाराष्ट्रवासियो! उक्त कार्य की पूर्ति के लिये सहस्रों और लाखों की संख्या में तलवार लेकर निकल पड़ो और अपनी गेरुआ ध्वजा को, नर्मदा को पार कर चम्बल के उस पार स्थापित कर दो। गङ्गा, यमुना, सिन्ध और ब्रह्मपुत्र को पार करते हुए अन्त में समुद्र के किनारे तक पहुंच जाओ और श्रीरामदास जी के महान् निम्न उपदेश को सदैव ध्यान में रखकर अपनी मनोरथपूर्ति के लिए प्रयत्न करते जाओ, तथा उसके साथ-साथ अपने पैर भी आगे बढ़ाते जाओ :—

"देव मस्तकीं धरावा। अपषा हलकल्लोल करावा॥
मुलुख बडवा बुंडवावा। धर्मसंस्थापनेसाठीं॥ *

इन उपरोक्त महान उद्देश्यों ने ही बाजीराव, चिम्नाजी अप्पा, ब्रह्मेन्द्र स्वामी, दीक्षित, माथुर बाई आंगरे इत्यादि महाराष्ट्रीय नेताओं को प्रोत्साहित किया और उन्हें मरहठा कार्यक्रम की वृद्धि करने के लिये बाधित किया। इस समय अब उन लोगों के सामने केवल यही प्रश्न नहीं उठता था कि—"क्या होना चाहिये?" बल्कि यह होता था कि "क्या किया जाय।" प्रथम तो महाराष्ट्रवासियों का ध्येय कोई विशेष प्रान्तीय हिन्दू-राज्य स्थापित करने का था ही नहीं और यदि ऐसा करने की उनकी इच्छा होती भी, तो उसका पूर्ण होना असम्भव था, क्योंकि महाराष्ट्र के हिन्दुओं का भाग्य उत्तर में सिन्ध से लेकर दक्षिण में समुद्र तक के हिन्दुओं के भाग्य के साथ बन्धा हुआ था।

महाराष्ट्र के राजनीतिज्ञ भली भाँति जानते थे कि भूतकाल में प्रान्तीय भेदभाव ने ही भारतवर्ष को पराधीन बनाया था, और इसी

* देवताओं को पूजनीय मानकर उनको सिर पर धारण कीजिये। चारों ओर धर्म का डंका बजा दो। धर्म की स्थापना के लिये अपना सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिये।

कारण हिन्दुओं की जाति तथा धर्म का नाश हुआ था। इसी बात को दृष्टि में रख कर वे सदैव यह प्रयत्न करते रहे कि जहाँ तक सम्भव हो, हिंदूमात्र को संगठित किया जावे। इसी बात को ध्यान में रखकर जिस समय नादिरशाह का आक्रमण भारतवर्ष पर हुआ उस समय बाजीराव ने प्रत्येक हिन्दू-राजा को लिख भेजा था कि मैं आप लोगों को केवल अपने धार्मिक तथा राजनैतिक कार्य्यों के लिये स्वार्थवश नादिरशाह का सामना करने सहयोग देने के लिये विवश नहीं करता हूं, बल्कि मैं सोचता हूँ कि जब तक आप लोग इस महान हिन्दू जाति की स्वतंत्रता के प्रश्न को सुचारू रूप से हल न करेंगे तब तक आप लोगों का व्यक्तिगत जीवन वास्तविक शान्तिमय जीवन नहीं कहलायेगा। आप को अपने ही सुख भोग पर जीवन व्यतीत करना शोभा नहीं देता है, वरन् हम लोगों को एक ऐसा बड़ा राज्य स्थापित करना चाहिये जिसकी छत्र-छाया में सारा भारतवर्ष सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। यह बात निश्चित है कि जब तक भारत पर विदेशियों का शासन है तब तक कोई भी हिन्दू शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता और न ही अपने को पूर्ण हिंदू कहलाने के योग्य भी प्रमाणित कर सकता है। ऐसी अवस्था में वह अपनी जाति की उन्नति करने में भी असमर्थ होंगे, क्योंकि दूसरों के अन्याय से भयभीत होकर उन्हें सब प्रकार से गुलामी की बेड़ी में बंधा रहने के लिए विवश होना पड़ेगा।

इन सब बातों को केवल महाराष्ट्र के नेता ही नहीं, बल्कि महाराष्ट्र का साधारण से साधारण व्यक्ति भी अनुभव कर रहा था कि जब तक वे लोग दिल्ली पर राज्य न करेंगे तब तक पूना और सितारे में राज्य करना व्यर्थ है। जब महाराष्ट्र के सारे नेता, शाहूजी के सभापतित्व में उपस्थित होकर भविष्य के राजनैतिक सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए तो ऐसा सुअवसर पाकर बाजीराव बोलने के लिये उठे और अपनी शक्ति और उत्साह तथा अपने विषय के महत्व

को दृष्टि में रख कर कहने लगे "हम लोग अब सीधे दिल्ली की ओर बढ़ेंगे और यवन-राज्य को जड़ से उखाड़ देंगे। ऐ हिन्दू शूरवीरो! तुम यहां खड़े होकर क्यों आगा-पीछा सोच रहे हो। आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, "हिन्दू-पद-पादशाही" स्थापित करने का समय आ गया है। क्या ऐसा करना असम्भव है? नहीं, नहीं, कभी नहीं। मैंने अपनी तलवार शत्रुओं की तलवार से नाप ली है—उनकी शक्ति का पता लगा लिया है।" फिर वह छत्रपति को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—"ऐ महाराज छत्रपति शाहू जी! मैं आप से अधिक धन या जन की याचना नहीं करता हूँ, केवल आप मुझे आज्ञा दें और साथ ही यह आशीर्वाद भी दें कि मैं सीधे दिल्ली जाऊं और उस हानिकारक वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ी चला कर उसे शाखाओं सहित नष्ट कर दूँ।"

बाजीराव के उत्साहपूर्ण तथा पवित्र आन्तरिक भावों से भरे हुए वाक्यों को सुनकर छत्रपति शाहू जी का शरीर रोमांचित हो गया, और उन्हें अनुभव होने लगा कि उनकी नसों में शिवा जी का रक्त प्रवाहित होने लग पड़ा है, और जोश भरे शब्दों में उन्होंने उत्तर दिया—"ऐ मेरी प्रजा के प्रमुख शूरवीरो! जाओ, जिधर चाहो, मेरी सेना को विजय-पर-विजय प्राप्त कराते हुए ले जाओ और दिल्ली ही क्या, इस गेरुआ वस्त्र की ध्वजा को, विजय लाभ कराते हुए, हिमालय की चोटी और यदि हो सके उसके परे किन्नरखण्ड पर स्थापित कर दो।" यह गेरुआ ध्वजा सोने-चाँदी के काम से सुशोभित नहीं थी, बल्कि उन बैरागियों और सन्यासियों के गेरुआ रङ्ग में रङ्गी हुई थी, जो सांसारिक माया के त्याग, ईश्वर-भक्ति तथा लोक-सेवा की ओर मनुष्यों को ले जाता है।

शाहू जी की आज्ञा पाकर मरहठे उस गेरुआ ध्वजा के पीछे चल पड़े। यह गेरुआ ध्वजा उन्हें धार्मिक कर्त्तव्यों का स्मरण कराने तथा उनको सत्पथ पर ले जाने के लिए दी गयी थी। इसी ध्वजा के सहारे मरहठे अपने उच्च आदर्श पर आरूढ़ रह कर धर्म और जाति

के रक्षक बने तथा शत्रुओं की पराधीनता से उन्होंने अपने देश को मुक्त कराया। तलवार ही मरहठों की पूज्या भवानी थी और भगवे रङ्ग का था उनका झण्डा। उस झण्डे को महात्मा रामदास जी ने उठाया था, वीर शिवाजी उसी गेरुआ झण्डे की छाया में लड़े थे और इसे सह्याद्रि पर्वत की चोटी पर ले जाकर इन्होंने स्थापित किया था। उसी को उसके पौत्र शाहू जी तथा उनके वंशजों ने किन्नर खण्ड का सीमा पर गाड़ने का दृढ़ निश्चय किया।

इस प्रकार सभा समाप्त हुई और महाराष्ट्र मंडल का इतिहास सारे भारतवर्ष का आदर्श इतिहास बन गया।

८.

दिल्ली की ओर प्रस्थान

* अरे बघतां काय ! चला ओरानें चाल करून !
हिन्दूपदपादशाहीस आतां उशीर काय !" —बाजीराओ

बाजीराव और उसके साथियों की शिवाजी की रवायत में पूर्ण रूप से कैसी शिक्षा दीक्षा हुई थी तथा उन्होंने अपने महान नेता की राजनैतिक विद्या तथा युद्धकला का कितनी सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था—इन दोनों बातों का स्पष्टीकरण शाहूजी के सभापतित्व में दिये गए बाजीराओ के भाषण से भली भांति हो जाता है। बाजीराव ने महाराष्ट्र के नेताओं को सम्बोधित करते हुए अपने वक्तृत्व में कहा—'जिस समय शिवाजी दक्षिण में हिन्दू जाति की स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए प्रयत्न कर रहे थे वह समय अत्यंत ही विकट और आपत्तियों से परिपूर्ण था। पर उस समय की अपेक्षा आज परिस्थिति हमारे अधिक

---

* अरे देखते क्या हो। शक्तिशाली बनो। हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना के लिये अब क्या देर है।

अनुकूल है। ऐसा सुअवसर मिलने पर, हम लोग उनके वंशज होते हुए भी उत्तरीय भारत में लड़ाई ठानने का साहस करने के स्थान पर नाना प्रकार की शङ्काओं और विचारों में पड़े हुए हैं। इस समय हम निज़ाम, बंगेश तथा मुग़ल सेनाओं पर बड़ी सफलता के साथ धावा बोल सकते हैं। सर्वप्रथम हमें निज़ाम के विरोध को नष्ट करना चाहिए क्यों क वर्तमान काल में मुसलमानों में वही सबसे सुयोग्य सेनापति और राजनीतिज्ञ है।'

बाजीराव ने जिस प्रकार अपनी ओजस्विनी वाग् शक्ति द्वारा अपना मनोरथ सफलतापूर्वक महाराष्ट्र मण्डल के सामने प्रकट किया उसी प्रकार कर्मक्षेत्र में भी अपने आपको अपने कर्त्तव्य द्वारा शिवाजी का एक सुयोग्य शिष्य और अनुयायी प्रमाणित कर दिया। ७ अगस्त, सन् १७२७ ईस्वी को, जबकि मूसलाधार वर्षा हो रही थी, बाजीराओ अपनी शिथिल सेना को लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़ा और औरङ्गाबाद में प्रवेश करके उस पर विजय प्राप्त कर ली। उसके पश्चात् निज़ाम के अधीनस्थ जलना तथा आस पास के जिलों से अपने बाहुबल से लड़ाई खर्च का चन्दा वसूल करना आरम्भ कर दिया। ज्योंही निज़ाम की सेना इवाज़खां की अध्यक्षता में उसका मुकाबिला करने के लिये पहुंची बाजीराओ ने उन्हें अपनी चतुरता से थोड़ी देर तक निरुत्साहित प्रकट करते हुए फंसाये रक्खा और फिर अचानक ही अपने दुश्मनों की सेना को छोड़ कर माहुर की ओर कूच कर दिया। फिर वहां से औरङ्गाबाद की तरफ बढ़ गया और यह बात फैला दी कि उस नगर से भी चन्दा वसूल किया जायगा। निज़ाम ने जब यह सुना तो वह उस धनी देश को बचाने के लिए इवाज़खां के साथ सम्मिलित होने के उद्देश्य से शीघ्रता से उसी ओर बढ़ा। जब बाजीराओ ने अपनी इस चाल में सफलता देखी और देखा कि निज़ाम इस धोखे में आ गया है तो उसने खानदेश को छोड़कर गुजरात में प्रवेश किया और वहां के मुग़ल वायसराय को, विकट हँसी करते हुए, सूचना दे दी कि मैं इस देश पर निज़ाम की आज्ञा पाकर चढ़ाई कर रहा हूँ।

निज़ाम बड़ी तेज़ी के साथ औरङ्गाबाद की तरफ़ जा रहा था। उसे यह सुन कर बड़ी निराशा हुई कि वह जिस शत्रु से औरङ्गाबाद की रक्षा करने जा रहा है, वह शत्रु तो गुजरात में पहले ही पहुंच चुका है। बाजीराओ की इस चाल पर निज़ाम को बड़ा क्रोध आया और उसने भी उसी की नीति का अनुकरण करके अपनी चालाकी से बाजीराओ पर विजय प्राप्त करने का विचार निश्चय किया अर्थात् निज़ाम ने सोचा कि जिस समय बाजीराओ पूना की राजधानी में रहे, उस समय अचानक धावा करके पूना को लूट लेना चाहिये। परन्तु बाजीराओ की इस युद्ध-कला को सीखने में भी निज़ाम पीछे ही रहा, क्योंकि बाजीराओ ने उसकी यह सब बातें जानकर पहिले ही गुजरात छोड़ दिया और बड़ी शीघ्रता से निज़ाम राज्य में फिर आ पहुंचा।

जब निज़ाम पूना लूटने के विचार से बड़ी तेज़ी से उस ओर जा रहा था, और सोच रहा था कि वह एक शानदार वीरतापूर्ण कार्य करने जा रहा है, तब उसे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि बाजीराओ के पूना लूटने के पहले ही उसका राज्य बाजीराओ द्वारा लूट लिया गया है। इसलिये वह पूना लूटने की आयोजना को त्याग कर बाजीराओ से गोदावरी के किनारे पर मुक़ाबला करने के लिये शीघ्रता से लौटा। इस चक्कर में पड़कर निज़ाम की सेना बड़ी थक गई थी। यद्यपि निज़ाम की इच्छा उस समय, अपनी सेना की दशा देखकर, सामना करने की न थी तथापि बाजीराओ ने उसे युद्ध करने के लिये हठात् विवश किया और पहले की भांति भागने तथा सामना न करने की अपेक्षा ऐसी चालाकी तथा बुद्धिमानी दिखाई कि उसके फेर में पड़कर निज़ाम की सेना बाजीराओ की इच्छानुसार पालखेद नामक स्थान पर जा डटी। बाजीराओ ने अब सहसा उन पर आक्रमण कर दिया। इससे पहले वह निज़ाम से टक्कर लेने में हिचकता रहा था।

यद्यपि निज़ाम के पास बड़ी २ तोपें और बन्दूकें मौजूद थीं, तथापि

वह बड़ी बुरी तरह फंस गया। उसे अब दृढ़ विश्वास हो गया कि अब मरहठों से छुटकारा पाना असम्भव है। वह विपाद सागर में डूब गया। अब उसके सामने दो ही रास्ते थे या तो वह अपनी सारी सेना को बरबाद करा लेता या बाजीराओ की इच्छानुसार सन्धि करता। बड़ी उधेड़बुन के बाद निज़ाम ने अपने हृदय में बाजीराओ से सन्धि करने का विचार निश्चित किया और शाहूजी को महाराष्ट्र का स्वतन्त्र राजा मान लिया और जितनी चौथ और 'सरदेशमुखी' बाकी थी सब पाई पाई देना स्वीकार कर लिया तथा इस शर्त को भी मान लिया है कि उसके राज्य में पुनः मरहठे 'कर' वसूल करने के लिये नियुक्त किये जायेंगे। इस प्रकार दोनों में सन्धि हो गई।

इस उपरोक्त लड़ाई का विस्तारपूर्वक वर्णन यहां इस लिए किया गया है क्योंकि यह मरहठा युद्धकला का आदर्श-स्वरूप उदाहरण है और इससे यह भी प्रकट होता है कि महाराज शिवाजी ने अपनी जाति को जिन जिन शिक्षाओं से भली प्रकार शिक्षित किया था, उनके वंशजों ने उन्हें आज तक उसी प्रकार स्मरण ही नहीं रक्खा वरन् उन शिक्षाओं को और भी उन्नत किया तथा समयानुकूल घोर लड़ाइयों में प्रायः उन गुणों से बहुत ही काम लेकर विशेष सफलता के साथ विजय प्राप्त करते रहे।

मालवा का मुग़ल वायसराय भी दक्खिन के मुग़ल वायसराय से किसी दशा में उत्तम सिद्ध नहीं हुआ। सन् १६९८ से लेकर, जबकि उदाजी पवार ने मालवा पर आक्रमण किया था और मण्डवा में अपना खेमा गाड़ दिया था, मरहठे लोग हर तरफ से मुग़लों की सेना पर धावा करते रहे और उन्हें सुख की नींद न सोने दिया। उस प्रान्त के हिन्दू, जो मुसलमानों के अन्यायपूर्ण शासन से पीड़ित थे, अपने धर्म की रक्षा के लिये हर तरह विधर्मियों से सताये जाते थे। उन लोगों का भी शिवा जी के उठाये हुये धार्मिक आन्दोलन के प्रति भाव बदला और वे अनुभव

करने लगे कि वास्तव में मरहठों का यह आन्दोलन प्रान्तीय या व्यक्तिगत नहीं है, वरन् धार्मिक और सार्वजनिक है। इस कारण वहां के हिन्दू, जिनके नैसर्गिक नेता वहां के जमींदार, ठाकुर और उनके पुरोहित थे, उक्त आन्दोलन के पक्षपाती हो गये और इस कार्य को सब ने अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ लिया। उनमें मरहठों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्हें पूर्णरूप से ज्ञात हो गया कि मरहठों की यह विशाल शक्ति ही केवल देश और धर्म को विदेशियों के पंजे से मुक्त कराने का इस समय एकमात्र सर्वश्रेष्ठ साधन है।

भाग्यवश मालवा के हिन्दुओं को वहां प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली राजकुमार मिला हुआ था जोकि हिन्दू-स्वतन्त्रता का बहुत ही समर्थक था। उसका शुभ नाम सवाई जयसिंह था। था वह जयपुर का राजा। महाराज छत्रसाल ने जब अनुभव किया कि हम अपने छोटे से राज्य की विदेशियों के आक्रमण से रक्षा करने में पूर्णतया असमर्थ हैं तो उन्होंने देशभक्ति से प्रेरित होकर तथा प्रान्तीय भेदभाव को त्याग कर हिन्दू स्वतन्त्र राज्य के आन्दोलन से सहानुभूति रखना पसन्द किया और इस बात की परवाह नहीं की कि इस आन्दोलन के जन्मदाता कौन हैं। चाहे मरहठे हों या राजपूत हों, चाहे सिख अथवा कोई अन्य हिन्दू सम्प्रदाय क्यों न हो, उन्होंने दिल्ली के मुसलमानी राज्य के सामने सिर झुका कर जीना पसन्द नहीं किया। वह इसी विचार पर अटल भी रहा। छत्रसाल के इसी उत्तम विचार का अनुकरण जयसिंह ने भी किया।

जयसिंह ने बड़ी वीरता के साथ मालवानिवासी पीड़ित हिन्दुओं का पक्ष ग्रहण किया। वे क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा अन्य जातिवाले मुसलमानों द्वारा नियुक्त शासकों के अन्यायपूर्ण करों से पीड़ित हो रहे थे। वे लूट-मार तथा अपने जाति और धर्म की अवनति तथा अपमान से विकल हो रहे थे। यह सब कुछ सहन करना उनकी शक्ति से बाहर हो रहा था। उन सबको जयसिंह ने अपने पास बुलाकर अपनी सम्मति दी कि सभी

मालवा-निवासी मिलकर मरहठों को बुलावें ताकि वे इनको स्वतन्त्र करा सकें और हिन्दू राज्य की स्थापना कर सकें। क्योंकि इस समय सिवाय मरहठों के हिन्दूधर्म का रक्षक दूसरा कोई दिखाई नहीं दिया तब उसके सामने दो परिस्थियां उपस्थित हुईं, या तो वह मरहठों से सहायता मांग कर उनके अधीन होकर रहता या वह विदेशी यवनों के अधीन होकर फलता फूलता। उस समय इस विचारशील राजकुमार ने भली भाँति समझ लिया था कि इस समय भारतवर्ष में जितने हिन्दू शासक हैं, उनमें से केवल महाराष्ट्र-मंडल ही एक ऐसी सुसंगठित शक्ति है, जो मुसलमानों का उचित रूप से सामना करके रणक्षेत्र में बाँध सकती है। उसने सोचा कि यदि मैं अग्रसर होकर अपने बाहुबल से इस पीड़ित हिन्दू-जाति को मुसलमानों के अन्याय से मुक्त नहीं करा सकता, तो मेरा अपनी जाति के प्रति अवश्य यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि अपनी सारी इच्छा, आशा और तृष्णा को त्याग कर, अपने सब नीच विचारों तथा पारस्परिक वैर-भाव को तिलाञ्जलि देकर उन महापुरुषों का सहायक बनूं जो हिन्दू-जाति को स्वतन्त्र बना सकते हैं और बनायेंगे।

प्रभावशाली ठाकुर नंदलाल मांडवी ने उक्त राजकुमार के विचारों का सादर अनुमोदन किया और बड़े हर्ष-पूर्वक मालवा निवासी हिन्दुओं की ओर से अपनी जाति एवं धर्म की मान रक्षा के लिए तथा म्लेच्छों को मार भगाने के लिए मरहठों को पत्र द्वारा आमन्त्रित किया। मरहठों ने, जिनका जीवन ही धर्म की रक्षा के लिये हुआ है, मालवा निवासी अपने सहधर्मियों के निमन्त्रण-पत्र को पाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ शीघ्र ही चिम्माजी (बाजीराओ के भाई) की अध्यक्षता में सारे प्रांत पर चारों ओर से आक्रमण कर दिया। इधर मुग़ल वायसराय ने यह समाचार पाकर एक बड़ी संख्या में अपनी सेना एकत्रित की, लेकिन मरहठे लड़ाई के समय उसकी तनिक भी परवाह न करके तिल भर भी रणक्षेत्र से न हटे

प्रत्युत् सुअवसर पाते ही मुसलमानी सेना पर अचानक टूट पड़े और देवास की लड़ाई में वायसराय का काम तमाम कर दिया।

किन्तु मुग़ल सम्राट् मालवा जैसे धनशाली प्रान्त को, इस प्रकार सहज ही अपने हाथ से खो देने के लिए कदापि तैयार न था, इसलिये उसने मरहठों का सामना करने के लिये एक नया वायसराय मालवा भेजा। इधर मरहठों से सहानुभूति रखने वाले सभी मालवा निवासी मरहठा फौज में शामिल हो गये। नये मुगल अधिनायक ने अपनी विशाल सेना के साथ एक भयङ्कर उपाय सोचकर मरहठों का मांडवघाट के दर्रों तथा अन्य दूसरी घाटियों में नाश करने का विचार किया। लेकिन मरहठों ने मालवा निवासी हिन्दुओं की सहायता से चिम्माजी अप्पा तथा पिलाजी की संरक्षकता में, मुगल सेना को तिराल नामक स्थान पर, एक घमासान लड़ाई करके पूर्णरूप से पराजित किया और उनके नये वायसराय को भी मार डाला तथा मुग़लों को मालवा से बिलकुल निराश कर दिया।

इस प्रकार दूसरी बार विजय के समाचार को सुनकर मालवा के हिन्दुओं की प्रसन्नता की सीमा न रही। वे आनन्दसागर में निमग्न हो गये। आज उनके लिए एक महान् गौरव का दिन सामने आया। सैंकड़ों वर्ष की हार और पराजय के पश्चात अब फिर उन्होंने विजय के साथ हिन्दू-ध्वजा को स्वतन्त्र फहराते हुए देखा। उस ध्वजा की छाया से उन की नसों में जीवन रक्त का संचार होने मगा। उनका हृदय देशभक्ति, जातीय प्रेम तथा धार्मिक भावों से भर गया। उनके मुक्ति-दाता मरहठे जिस ओर जाते वे, बड़ी धूम-धाम से उनका स्वागत करके उनके प्रति अपनी कृतज्ञता जताते थे।

स्वयं जयसिंह ने भी एक मानपूर्वक पत्र द्वारा सारे मरहठे सेनापतियों को, जिन्होंने लड़ाई में अपूर्व साहस तथा वीरता का परिचय दिया था, इस अद्भुत सफलता पर बहुत २ बधाई देते हुए तथा उनका

सहस्रवार धन्यवाद करते हुए लिखा कि आपकी विजय अति शोभापूर्ण है। अपने मुसलमान शत्रुओं को मालवा प्रान्त से निकाल कर, मालवा निवासी हिन्दुओं को यवनों की दासता की बेड़ी से मुक्त करा के हिन्दू-धर्म के साथ जो उपकार किया है, उसके लिये हम लोग आजन्म आपके ऋणी हैं और जो कुछ आपके प्रति कहा जाय, सब कुछ थोड़ा है। केवल सहस्रों धन्यवाद देकर ही मैं अपने आपको कृतकृत्य समझता हूँ।

मरहठे सरदारों ने शीघ्र ही देश में शान्ति स्थापित कर दी और मुगल-प्रतिनिधियों को मालवा से निकाल कर उस पर महाराष्ट्र के एक सूबे की भाँति, शासन करने लगे।

इतने पर भी, दिल्ली का बादशाह पूर्ण निराशा में भी आशा की किरन ढूंढने का प्रयत्न करने लगा। उसने पुनः एक नये वायसराय को भेजा जिसका नाम मुहम्मदखाँ बंगश था। वह एक बहादुर शेरदिल रुहेला पठान था। उसने लड़ाइयों में अपनी वीरता से मुसलमानी सेना के अन्दर बड़ा नाम पैदा किया हुआ था। उसे मुगल बादशाह की तरफ से पुरस्कार में 'रणसिंह' की उपाधि मिली हुई थी। दिल्ली दरबार की ओर से उसे सबसे पहले बुन्देला-सरदार छत्रसाल की बढ़ती हुई शक्ति का नाश करने और तत्पश्चात् मालवा से मरहठों का नामोनिशान मिटा देने का भार सौंपा गया।

बुन्देला-सरदार छत्रसाल, कुछ दिनों से मुसलमानों की गुलामी की बेड़ी को अपने परिश्रम से तोड़ कर, स्वतन्त्र राजनैतिक जीवन व्यतीत कर रहा था। छत्रसाल शिवाजी का एक अनन्य भक्त था, शिवा जी की आदर्शपूर्ण शिक्षा ने उसके हृदय में स्वतन्त्रता की नींव रखी थी। उसने यौवन काल से ही शिवा जी को अपना गुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया हुआ था। तब से ही वह शिवाजी की सम्मति अनुसार बुन्देलखण्ड के हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील रहा और अन्त में बड़ी सफलतापूर्वक उसने अपने देश और धर्म को स्वतन्त्र

बना लिया। इसी कारण इसकी सारी प्रजा इसको 'हिन्दू-धर्म की ढाल' के नाम से बुलाने लगी थी।

मुहम्मद बंगश ने एक बड़ी भारी सेना के साथ बुँदेलों के छोटे से राज्य पर, बादशाह की आज्ञानुसार, आक्रमण कर दिया। वृद्ध बुँदेले सरदार ने जब देखा कि मुझ जैसे छोटे राज्य को विध्वंस करने की शाही-आज्ञा लहर मार रही है तो वह कुछ चिन्तित हुआ। पर शिवाजी जैसे गुरु तथा रामदास और प्राणनाथ प्रभु जैसे महात्माओं की हिन्दू-पद-पादशाही की शिक्षाओं से पूर्णतया प्रभावित छत्रसाल का ध्यान अपने गुरुभाई बाजीराओ की ओर गया। बाजीराओ के रक्त में न केवल शिवाजी का उत्साह ही भरा हुआ था बल्कि उसमें अपने पूर्वजों के उद्देश्य की पूर्ति की लगन भी लगी हुई थी। छत्रसाल ने एक करुणापूर्ण पत्र बाजीराओ के नाम लिखा, जिसमें उनके पूर्वजों की कीर्ति तथा उच्च ध्येय का दिग्दर्शन कराते हुए उनके कर्त्तव्यों का स्मरण दिलाया और अपनी इस सङ्कटापन्न अवस्था में सहायता पाने के लिये प्रार्थना की। छत्रसाल की बुद्धिमत्ता तथा लेखन-शक्ति ऐसी थी, कि उस के उस पत्र ने प्रत्येक हिन्दू के हृदय में भ्रातृभाव उत्पन्न कर दिया। मैं उसके पत्र का सार अंकित करता हूँ, जो उसकी श्रद्धा का द्योतक है।

"जिस प्रकार विष्णु भगवान ने गजराज के आर्तनाद को सुनकर नंगे पाओं जाकर दुष्ट ग्राह के हाथ से उसकी रक्षा की थी उसी प्रकार "ऐ हिन्दू-कुल-कमल-दिवाकर बाजीराओ! आप भी आइये और मुझ दीन को विधर्मियों के भयङ्कर आक्रमण से बचाइये।"

महाराज शिवाजी के एक पुराने शिष्य तथा मित्र के इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमण द्वारा धर्मसङ्कट में पड़ने पर तथा एक हिन्दू के नाते मरहठों से सहायता मांगने पर भला मरहठे इसकी पुकार को कैसे अनसुना कर सकते थे। उनका तो अस्तित्व ही धर्म की रक्षा के लिये था, पत्र पाते ही मरहठों का उत्साह देशभक्ति के लिए उबलने लगा और

तत्काल ही बाजीरा‍ओ, मल्हारराओ, चिम्माजी अप्पा तथा अन्य मरहठे सरदारों ने जितनी शीघ्रता हो सकी, उतनी शीघ्रता से सत्तर हजार सेना के साथ कूच कर दिया और महाराज छत्रसाल से धामारोह के स्थान पर आ मिले। छत्रसाल भी अपनी बची बचाई बुँदेला-सेना एकत्रित कर उनके साथ रवाना हो गये। यद्यपि उस समय मूसलाधार वृष्टि हो रही थी तथापि रणमद में मत्त मरहठों ने इसकी कुछ भी परवाह न की।

मुहम्मदखां अपनी असंख्य सेना के साथ, एक छोटे से हिन्दू-राज्य पर विजय प्राप्त करके तथा राजा छत्रसाल को उसकी राजधानी से निकाल कर, अपनी वीरता पर बहुत गर्वित हो रहा था। उसने वर्षाकाल में आराम करने का विचार किया।

जिस समय मुगल-अधिपति इस प्रकार मूर्खों के स्वर्ग में विचर रहा था उसी समय भयानक वर्षाकाल की तनिक भी परवाह न करते हुए कर्मवीर हिन्दू सेनाओं ने मरहठों की छत्र-छाया में अपनी जान हथेली पर रखकर, सघन वनों, दुर्जय पर्वतों तथा विकट मार्गों को पार करके अचानक मुहम्मदखां बंगश पर चढ़ाई कर दी और सन् १७२६ ईसवी में जैतपुर की लड़ाई में उसे भली भांति परास्त कर दिया। उससे जीते हुए राज्य को पुनः छीन लिया। सुख-स्वप्न देखने वाले 'रणसिंह' ने अब अपने आपको शत्रुओं से घिरा हुआ पाया। जान जाने के भय से वह बड़ी नीचता पूर्वक रणक्षेत्र से पीठ दिखा कर भागा और दिल्लीराज से मिली हुई 'लड़ाई के शेर' की उपाधि को अक्षरशः सत्य बनाकर मुसलमानों का मुख उज्ज्वल किया! इस प्रकार सारा मालवा व बुन्देलखण्ड पुनः हिन्दुओं के हाथ आ गया। वृद्ध बुन्देले-सरदार छत्रसाल ने पुनः बड़ी धूमधाम से अपनी राजधानी में प्रवेश किया। नगर निवासी अपने बिछुड़े हुए सरदार के शुभागमन से कृतकृत्य हुए और उन्होंने आन्तरिक हृदय से उनका स्वागत किया। सारा नगर मरहठों की तोपों की ध्वनि से गूञ्ज उठा।

वृद्ध छत्रसाल मरहठों के इतने कृतज्ञ हुए कि उन्होंने बाजीराओ को अपना तृतीय पुत्र बना लिया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके राज्य का तीसरा भाग बाजीराओ के हवाले कर दिया गया। बुंदेलों का यह अनुपम कार्य, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मरहठों के सिद्धान्त और आदर्श, जिन पर कि उनका निस्वार्थ कार्य निर्भर था, बहुत उच्च थे। इसी कारण से बाजीराओ के वंशजों में प्रान्तीय तथा व्यक्तिगत भेद-भाव लेशमात्र भी न बचा, और सभी लोग अपने आप को एक खून, एक जाति तथा एक ही धर्म-सूत्र में बंधा हुआ समझने लग गये। इनही उच्च आदर्शों ने सब के हृदयों को हिन्दू स्वतन्त्रता प्राप्त करने और एक सुविशाल हिन्दूसाम्राज्य स्थापित करने के पवित्र भावों से भर दिया।

तीसरे मुसलमान वायसराय मुहम्मदखां बंगाश के मालवा और बुन्देलखण्ड से भाग जाने पर मरहठे सारे देश के स्वामी बन गये। यह स्थान उनके लिए बड़ा ही उपयुक्त सिद्ध हुआ। यहीं से उन्होंने हिन्दू-स्वतन्त्रता की लड़ाई मुगल राज्य के ठीक केन्द्र में आरम्भ करने की ठान ली।

जिस समय मालवा और बुन्देलखण्ड में ये लड़ाइयां हो रही थीं उसी समय मरहठे गुजरात प्रान्त में अच्छी सफलता प्राप्त कर रहे थे। सेनापति पिलाजी गायकवाड़, कन्थाजी बान्दे और अन्त में स्वयं चिम्माजी अप्पा ने क्रमशः गुजरात-प्रान्त में मुसलमानी सेनाओं को ऐसा नीचा दिखाया कि विवश होकर मुग़ल वाइसराय ने "चौथ" और "सर-देशमुखी" देने की शर्त पर सन्धि कर ली। परन्तु मुगल बादशाह, मरहठों की ऐसी गर्वपूर्ण विजय पर अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसने सेनापति अभयसिंह को मरहठों को गुजरात से शीघ्र बाहर करने का भार सौंप कर भेजा।

अभयसिंह, जयसिंह से बिल्कुल प्रतिकूल प्रकृति का पुरुष था। उसकी आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मिक स्वार्थ ने उसे ऐसा अन्धा

बना दिया था कि वह किसी प्रकार भी हिन्दू स्वतन्त्रता की लड़ाई में जान निछावर करने वाले हिन्दुओं का पक्ष ग्रहण करने के लिये तैयार न था। यहां तक कि हिन्दू-आन्दोलन में भाग न लेने वाले हिन्दू भी उससे हजार अंशों में अच्छे गिने जाते थे। इस समय केवल महाराष्ट्र-मंडल ही हिन्दुओं की एक अपूर्व संगठित शक्ति थी जो इस महान् कार्य्य को सफल बनाने के योग्य थी।

जाति और धर्म का शत्रु, मुग़लों का ग़ुलाम, स्वार्थी, नीच, कुल-घातक अभयसिंह मरहठों से लड़ने के लिये गुजरात गया। वहां वह मरहठों की अपूर्व शक्ति तथा वीरता को देखकर चकित होगया और लड़ाई से डर कर सुलह करने के बहाने मरहठा सरदार पिलाजी गायकवाड़ को डाकोर नामक पवित्र स्थान पर बुलाया। डाकोर हिन्दुओं का धर्म स्थान है। इसलिए तीर्थ की पवित्रता तथा क्षत्रियों के वचन पर विश्वास करके शुद्धचित्त पिलाजी ने वहां जाने में कोई आपत्ति न की। पर जैसा पिलाजी का अनुमान था वैसा न हुआ। उस नीच, कुल-कलङ्की, स्वार्थ-परायण, मुग़ल-ग़ुलाम अभयसिंह ने धोखा दिया और पिला जी को मरवा कर अपनी नीचता का पूर्ण परिचय दिया। लेकिन शीघ्र ही उसे विदित हो गया कि वह केवल एक खून करने का ही अपराधी ही नहीं है, वरन् उससे एक बड़ी भारी भूल भी हो गई है।

मरहठे ऐसे कायर न थे जो अपने एक सरदार की मृत्यु से हताश होकर अपने उद्देश्य को अधूरा छोड़ देते या डर कर लड़ाई बन्द कर देते। युद्ध और मृत्यु उनके बचपन के साथी थे। उनका तो पालन-पोषण ही इन्हीं परिस्थियों में हुआ था। ऐसे मरहठों के किसी एक नेता या सेनापति को यदि कोई धोके से मार कर उनकी जाति पर अपना प्रभाव जमाना चाहे या उनको अपने वश में करना चाहे तो यह उसकी निरी मूर्खता ही समझना चाहिए।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार मालवा व बुन्देल-

खण्ड-वासियों ने महाराष्ट्र-मण्डल को प्रार्थना-पत्र भेज कर अपनी सहायता के लिये बुलाया और उनके आने पर उनका साथ दिया एवं उनके आन्दोलन के हृदय से पक्षपाती बने, उसी प्रकार गुजरात-वासियों ने भी मरहठों को बुलाया और उनके साथ मिल गये। तथा उनके साथ सर्वदा सहानुभूति रक्खी और उनके पक्ष में लड़ते भी रहे।

पिला जी की अन्यायपूर्ण हत्या का समाचार सुन कर गुजरात के कोल, भील, वाघर्ड, और अन्यान्य सैनिक जातियां अत्यन्त क्रोधित हुईं। मुग़लों से इस हत्या का बदला लेने का भाव, उनके हृदय में भर आया। इसलिये मरहठे हर तरफ से टूट पड़े और गोलाबारी करके १७३२ ईस्वी में बड़ौदा राज्य को लेकर उसे ऐसा सुरक्षित बना लिया कि वह आज तक मरहठों की एक प्रसिद्ध राजधानी बना हुआ है।

लड़ाई में अभयसिंह के पैर बिल्कुल उखड़ गये, वह अपने पाप और नीचता के कारण पवित्र, धार्मिक मरहठों का तनिक भी सामना न कर सका। उधर दामाजी गायकवाड़ ने अभयसिंह की राजधानी जोधपुर पर चढ़ाई कर दी। यह सुन अभयसिंह के होश-हवास उड़ गये, अन्त में विवश होकर लड़ाई से मुंह मोड़ वह अपनी पैतृक राजधानी जोधपुर की रक्षा के लिये शीघ्र लौटने पर विवश हो गया। इधर दामा जी भी उसके लौटने का समाचार सुनकर मुड़ा और अहमदाबाद पर चढ़ाई करके उसको ले लिया और मुग़ल-सेना व उसके प्रतिनिधि को चक्कर में डाल दिया और उसकी ऐसी परिस्थिति बना दी कि उसके अहमदाबाद को मरहठों से लौटा लेने की बात तो दूर रही उसका पुनः गुजरात आना ही असम्भव बना दिया गया। इस प्रकार १७३५ ईसवी में, मुग़ल राज्य यह सारा सूबा उनके हाथ से निकल गया और उनकी लहलहाती हुई आशा-लता का सत्यानाश हो गया।

६.

हिन्द सागर की ओर

*आरमार स्वतन्त्र एक राज्यांगच आहे, ज्याचे जवळ आरमार त्याचा समुद्र जलदुर्ग सहित होते त्यास नूतनच जलदुर्ग करून वसविले"।

—रामचन्द्र पन्त आमात्य—राजनीति।

भारत-भूमि को स्वतन्त्र करने के लिये, जिस समय मरहठे मुगल-राज्य के ठीक केन्द्र में लड़ाई छेड़े हुए थे, उसी समय हिंद-महासागर को भी विदेशियों से स्वतन्त्र कराने के लिये प्रयत्नशील थे; क्योंकि उन का अनुमान था कि जैसे मुसलमान स्थल के अधिपति हो कर हिन्दू राज्य के लिये जितने बाधक हो रहे हैं वैसे ही युरोपीय सौदागर भी, जिनके जहाज़ इस समय व्यापार के लिए हिन्द-महासागर में आ जारहे हैं, भारत के अधिकारी होकर उतने ही बाधक सिद्ध होंगे।

शिवाजी तथा उन के वंशज युरोपीय सौदागर की कामना' आशा तथा लोभ का नाश करने तथा उन के कार्य्य को असफल बनाने में किस प्रकार दत्तचित थे—इसका पूरा दिग्दर्शन, प्रसिद्ध नेता और राजनीतिज्ञ रामचन्द्र पंत के बनाये तथा मरहठा मंत्रिमंडल द्वारा लोगों का ज्ञान बढ़ाने के लिये प्रकाशित "स्टेट-पॉलसी" नामक ग्रन्थ के पढ़ने से होता है।

शिवा जी समयानुकूल अपनी वीरता से यथा शक्ति समुद्रतट की विदेशियों से रक्षा करते रहे। यहाँ तक कि उन्हों ने केवल हिन्द-

---

* स्वतन्त्र सामुद्रिक बेड़ा राज्य का एक आवश्यक अंग है जिस के पास सामुद्रिक बेड़ा होता है वही समुद्र का स्वामी बन सकता है। जिन शत्रुओं के पास जलदुर्ग हैं उनको हराने के लिए नवीनतम जलदुर्गों की आवश्यकता होती है।

सागर की स्वतन्त्रता के लिए एक अलग सेना की नींव डाली और इस की सहायता के लिये एक नया सुसज्जित दृढ़ सामुद्रिक दुर्गों का बेड़ा भी बनवाया। इसके द्वारा, लगभग सौ वर्ष तक, हिन्द-महासागर स्वतन्त्र तथा सुरक्षित रहा।

राजाराम के समय में, जब औरंगज़ेब ने सारे दक्षिण प्रान्त पर विजय प्राप्त कर ली और मरहठे संगठित होकर उनका मुक़ाबला करने के योग्य न रहे तब उन्हें जहां कहीं भी उनका शत्रुओं से सामना हुआ वहीं वे अलग अलग बड़ी शूरता के साथ लड़ते रहे। परन्तु मुगल सेना को, समुद्रतट से भगाने का भार प्रधान-सेनापति कान्होजी आंगरे, गुज़ारस तथा अन्य मरहठे नौ-सैनिकों के सिर पड़ा। वे अपने कर्तव्य को इस योग्ता से निबाहते रहे कि अङ्गरेज़, पुर्तगेज, डच, सिद्दी और मुगलों में, किसी का भी व्यक्तिगत अथवा संगठित रूप में साहस न हुआ कि मरहठों की उन्नतिशील सामुद्रिक शक्ति को दबा सके। अंग्रेजों को विशेष हानि उठानी पड़ी क्योंकि खाण्डेरी द्वीप, बम्बई की बन्दरगाह से केवल १६ मील की दूरी पर था। वह द्वीप प्रसिद्ध नौ-सेना-नायक कान्हों जी आंगरे के आधिपत्य में था। वे समझते थे कि यदि जंजीरा के सिद्दी की मुसलमानी शक्ति से मरहठे-जेनरल स्वतन्त्र रहे तो वे अवश्य हमारी शक्ति का नाश कर देंगे और साथ ही साथ पश्चिमी किनारे के पूर्ण शक्तिशाली पुर्तगेज़ी सौदागरों का भी नाश कर देंगे।

अपनी शक्ति को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए कान्होंजी आंगरे को एक बड़ी सेना रखने के लिये बाध्य होना पड़ा, जिसके खर्च की पूर्ति के लिये, अरब सागर के व्यापारियों के जहाज़ों पर "चौथ" लगा दी गई।

मरहठों का, हिन्द-महासागर पर आधिपत्य स्थापित करने तथा उन पर चलने वाले विदेशियों के जहाजों पर 'चौथ' लगाने का अधिकार उचित ही नहीं, बल्कि यथार्थ भी था। लेकिन अंग्रेज़ तथा अन्य विदेशी

सौदागरों ने उनके इस अधिकार का पूर्ण विरोध किया। इसके फलस्वरूप कान्होंजी ने विवश होकर उन्हें दण्ड देने के लिये उनके जहाजों को, नौकरों तथा सामान-सहित उस समय तक रोके रक्खा जब तक कि वे "चौथ" अदा न करें।

सन् १७१५ ईस्वी में चार्ल्स बून जब बम्बई का गवर्नर नियुक्त हो कर आया तो उसने आंगरे के सामुद्रिक किले को विध्वंस कर देने का दृढ़ निश्चय किया। उसे अपनी वीरता पर पूर्ण अभिमान था और वह सर्वदा अपनी वीरता की डींगें मारा करता था। उसने दुर्ग के विजय करने के लिये एक बड़ी सेना का निर्माण किया, और विजय दुर्ग की बन्दरगाह पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेज क्रोध से लाल हो रहे थे। उन्होंने अपने जङ्गी जहाज़ों के नाम क्रमशः "हण्टर" अर्थात् शिकारी, "हॉक" अर्थात् बाज़, "रिवेञ्ज" अर्थात् बदला लेने वाला और 'विक्ट्री' अर्थात् विजय रक्खे। इन लोगों का एक सङ्गठित पैदल दल भी था जिस में सहस्रों ही चुने हुए अंग्रेज योद्धा थे। वह दल मरहठों के सामुद्रिक किले के नाश करने वाली सेना की सहायता के लिए तैयार किया गया था।

इस प्रकार चार्ल्स बून ने अपनी जाति के महान् गौरव को दिखाने के लिये एक शक्तिशाली सेना के साथ मरहठों के सुदृढ़ किले पर एक ओर से धावा कर दिया और शीघ्र ही दूसरी ओर से उपर्युक्त विशेष नामधारी पैदल दल ने स्थल की ओर से धावा बोला। १७ अप्रैल सन् १७१७ ई० को क्रोधित अंग्रेज़ी सेना ने मरहठों के विजय दुर्ग पर गोलाबारी प्रारम्भ कर दी। लेकिन उनकी लहलहाती आशालता पर शीघ्र ही तुषार पड़ गया। उन्हें विदित हो गया कि यह किला मोम का बना हुआ नहीं है, जो उनके गोलों की गरमी से शीघ्र ही पिघल जाता, बल्कि यह विशाल किला दृढ़ तथा सब प्रकार से सुरक्षित बनाया गया है, जिस के चारों ओर तोपखाना लगा हुआ है। इस पर भी वीर अंग्रेज

सैनिकों ने किले की दीवार को पार करने के लिये अनेकों प्रयत्न किये, पर दीवार से लगी हुई तोपों ने उनके सारे प्रयत्नों को निष्फल कर दिया। इस प्रकार अपनी हार होते देखकर गोरे बहादुर अत्यन्त क्रोधित हो उठे। और जी खोलकर लड़े। पर वाह रे मरहठे वीर! तुमने उनकी सारी आशाओं को धूल में मिलाकर उन्हें पीछे हटा दिया। जब अंग्रेजों के पांव रणक्षेत्र से उखड़ गए, तब मरहठे अपनी सारी शक्तियों को लगा कर अन्धाधुन्ध गोले बरसाने लगे, इससे अंग्रेज़ सिपाहियों ने जितनी शीघ्रता से किले पर आक्रमण किया था उससे भी अधिक शीघ्रता भागने में दिखाई।

दूसरे साल गवर्नर बून ने पुनः पूरी तय्यारी के साथ खाण्डेरी द्वीप पर आक्रमण किया, पर फिर भी उसे मरहठों से पराजित होकर भागना पड़ा। इस प्रकार मरहठों की वीरता ने उन्हें ऐसा नीचा दिखाया कि उनके हृदय में उनका डर बैठ गया, इस पर गवर्नर ने इङ्गलैण्ड के राजा को पत्र द्वारा एक पूर्ण जहाज़ी बेड़ा तैयार करने के लिए विवश किया।

बून के कथनानुसार इङ्गलैण्ड के राजा ने प्रसिद्ध सेनापति कोमोडोर मैथ्यू की अध्यक्षता में एक बड़ा भारी जङ्गी बेड़ा, जिसके साथ चार अन्य जङ्गी जहाज थे, रवाना किया और साथ ही साथ मरहठों पर विजय पाने के लिये पुर्तगीज़ों को भी युद्ध के लिए निमन्त्रित किया। इस सुअवसर को पाकर पुर्तगेज़ भी बड़ी प्रसन्नता के साथ मरहठों के विरुद्ध लड़ाई करने के लिये चल पड़े।

सन् १७२१ ईस्वी में मरहठों को इस युरोप की मिश्रित शक्तियों से सामना करने के लिये उठना पड़ा और वे ऐसी बुद्धिमानी और वीरता

के साथ लड़े कि युरोपीय शक्तियों को मरहठों के किले की दीवार तक पहुँचना असम्भव हो गया।

यह देख सेनापति कोमोडोर मैथ्यू क्रोध से आगबगोला हो गया और अपनी सेना को उत्साहित करता हुआ, स्वयं सबसे आगे बढ़ कर किले पर आक्रमण करने के लिये दौड़ा। उसी समय एक मरहठे सिपाही दौड़ कर अपनी सङ्गीन उसकी जांघ में घुसेड़ दी, पर धीर कोमोडोर इस आघात से तनिक भी भयभीत न हुआ, वरन उसने बड़ी शीघ्रता से उस सिपाही का पीछा किया और उस पर पिस्तौल के दो फ़ायर किये, लेकिन क्रोध और शीघ्रता में वह पिस्तौल भरना भूल गय था इसी कारण दोनों फ़ायर निरर्थक गये।

इस मित्र सेना की भी वही दशा हुई जो उनके सेनापति की हुई थी। जब मित्र सेना जान हथेली पर रख, जी तोड़ कोशिश करके जैसे तैसे किले के पास पहुँच गई, इसी समय मरहठों ने बड़ी बुद्धिमानी और उत्साह से इसका सामना किया और मित्र सेना चीखती हुई भाग निकली।

ठीक उसी समय मरहठों की एक दूसरी संगठित रिजर्व सेना, अचानक ही पीछे से आकर पुर्तगीज़ों की बाहरी सेना पर टूट पड़ी, इससे भयभीत हो सेना अपनी जान लेकर भागने लगी और तत्काल अंग्रेज़ी सेना ने भी उनका साथ दिया—अर्थात दोनों तितर-बितर होकर भाग गईं। उनका बहुत-सा लड़ाई का सामान मरहठों के हाथ लगा। विजय का डङ्का बजने लगा और मरहठे इस सफलता से अत्यन्त आनन्दित हुए। उधर मित्र-सेनाओं के हृदय में जो कुछ लड़ाई की इच्छा शेष रह गई थी, उसको पूर्णाहुति के लिये आपस में दोनों वाग्-युद्ध करने लग गईं अर्थात् तात्कालिक लड़ाई की हार तथा भारी हानि का उत्तरदायित्व एक दूसरे के मत्थे मढ़ने लगीं। इस प्रकार द्वन्द्व-युद्ध करती हुई अपना-सा मुँह लेकर दोनों ने अपनी-अपनी राह ली। पुर्तगीज़ों ने चाऊल का

रास्ता लिया और अंगरेज़ों ने बम्बई के लिए अपने जहाज़ तय्यार किये।

इस लड़ाई के पश्चात् बहुत दिनों तक अङ्गरेज़ सौदागर अपने सौदागरी के जहाज़ों के साथ एक जंगी जहाज़ भी लेकर आते रहे, क्योंकि उन्हें इस बात का भय रहता था कि कदाचित् मरहठे उन्हें 'चौथ' के लिये न पकड़ लें। अन्त में ऐसा हो ही गया अर्थात् कुछ दिनों के बाद अंगरेज़ों के 'विक्टरी' (विजय) और 'रिवेञ्ज' (बदला लेने वाले) नामी जहाज़ों को मरहठों ने पकड़ कर रोक लिया।

सन् १७२४ ईस्वी में डचों को भी जाना पड़ा। उन्होंने पूरी तैयारी के साथ अर्थात् सात जंगी जहाज़ों, दो बम मारने वाले जहाज़ों और एक अच्छी सेना लेकर मरहठों के विजय-दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इतनी तैयारी करने पर भी मरहठों के साहस तथा वीरता पर किसी प्रकार का धब्बा लगाने में असफल हुये। अब मरहठा जल-सेनापति हिन्द-महासागर में स्वच्छन्द घूमने लगे। इस बड़ी भारी सफलता प्राप्त करने के साथ मरहठे कोंकण में मुसलिम सिद्दी से हैदराबाद में निज़ाम से, गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड में मुगलों के साथ भी लड़ते रहे।

कान्होजी आंगरे का सन् १७२६ ई० में देहान्त हो गया, ठीक उसी समय एक दूसरे ऐतिहासिक व्यक्ति ने राजनैतिक रंग-स्थल में प्रवेश किया। उसने शीघ्र ही महाराष्ट्र-मण्डल के नेताओं के हृदयों पर अपनी वीरता की धाक बिठा दी। निस्सन्देह वह एक बड़ा तेजस्वी वीर था। उसने मरहठा जाति को उसके महान् उद्देश्य से किसी प्रकार से भी च्युत नहीं होने दिया। इस महान् व्यक्ति का नाम था ब्रह्मेन्द्र स्वामी। वे शाहजी, बाजीराओ, चिम्माजी, आंगरे आदि अन्य सहस्रों वीरों के गुरु थे। उनका जीवन देशभक्ति की महान् और श्रेष्ठ भावनाओं तथा आदर्शों से प्रोत्साहित था। वे सदा अपनी जाति के सम्मुख सरल रीति से आध्यात्मिक तथा धार्मिक पहलू तथा 'स्वधर्म' और 'स्वराज्य' के महान्

उद्देश्य को उपस्थित करने में कभी नहीं चूकते थे। स्वामी जी ने अपने यौवनकाल में घोर तपस्या की थी और कई योग की सिद्धियाँ भी प्राप्त करली थीं। उदाहरणत: वे साल में पूरा एक महीना पृथ्वी के नीचे दब कर समाधि लगाया करते थे। बाजीराओ की तरह उन्होंने भी भारत के सारे तीर्थों का भ्रमण किया था जिसके परिणाम-स्वरूप वे हिन्दुओं की पराधीनता और राजनैतिक गुलामी को अनुभव करके बड़े दुखी हुये। यद्यपि उनमें देशभक्ति की अग्नि प्रज्वलित थी तो भी उसको प्रचण्डरूप में प्रज्वलित करने के लिये एक और चिनगारी की आवश्यकता थी। जंजीरा के मुसलमान शासकों ने उनकी इस देशभक्ति को प्रचण्ड करने के लिए यह चिनगारी फेंकी।

सिद्दी महाराष्ट्र राज्य के कट्टर शत्रु थे। उन्हें पता था कि यदि मरहठे इसी प्रकार प्रतिदिन सशक्त होते गये तो उनका कोंकण पर से अधिकार छिन जायेगा। इसी कारण वे मरहठों के विरुद्ध अंग्रेज़ों, डचों तथा पुर्तगेज़ों की सहायता किया करते थे और प्राय: वे मरहठों के प्रदेशों पर आक्रमण भी करते रहते थे। वे इतने पर ही सन्तोष न करते थे किंतु बड़ी निर्दयता के साथ—जोकि धर्मान्ध मुसलमानों की एक विशेषता है—सैंकड़ों बालक और बालिकाओं को उठाकर ले जाया करते थे और उन्हें ज़बर्दस्ती मुसलमान बना लेते थे। हिन्दुओं के मन्दिरों को मिट्टी में मिला देते थे और इसी प्रकार से हिन्दुओं पर असंख्य अत्याचार करते रहते थे। परशुराम का तीर्थ भी इन कट्टर-धर्मियों के हाथों से सुरक्षित न रह सका। यह स्थान स्वामी जी को बड़ा प्रिय था। इस पवित्र भूमि पर स्वामी जी योग और तपस्या किया करते थे। सिद्दी ने इस मन्दिर को गिरा दिया। इसकी सारी सम्पत्ति लूट ली और ब्राह्मणों को अत्यन्त कष्ट दिये। इस क्रूरतापूर्ण घटना ने स्वामी जी के मन में कभी भी न बुझने वाली क्रोधाग्नि प्रज्वलित कर दी। इस प्रकार उनके जीवन से अच्छे-बुरे सबके प्रति समदृष्टि का भाव—जोकि प्रत्येक हिन्दू साधु की सम्पत्ति है

और जिस पर सबको आरूढ़ रहना होता है—एकदम लुप्त हो गई। परिणामतः उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के युद्ध के उद्देश्य तथा उसकी वृद्धि के लिए अर्पण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया, स्वामी जी का इतना अधिक प्रभाव था कि सिद्दी उनको अपना पक्का दुश्मन बनाने का साहस न रखता था अतः उनसे प्रार्थना की कि आप अब भी तीर्थ में रह सकते हैं. आपको अब किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाई जायगी। परन्तु स्वामी जी ने इसका यों कड़ा उत्तर दिया—"तुमने हिन्दू देवताओं और ब्राह्मणों पर अत्याचार किए हैं। अब वह भी उसी प्रकार से बदला लेकर तुम्हारा नाश करेंगे।" आंगरे ने भी उन्हें सान्त्वना देनी चाही और उन्हें कोंकण में ही रहने के लिए प्रार्थना की—पर उन्होंने उत्तर दिया—'नहीं' मैं उस स्थान का जल-बिन्दु भी ग्रहण न करूंगा जिस पर बेईमान मुसलमानों का राज्य है। मैं कोंकण में अवश्य प्रवेश करूंगा—पर उस समय जबकि मेरे पीछे बदला लेनवाली हिन्दुओं की सेना होगी।" ऐसा कह कर स्वामी जी सितारा को चले गये। तब से वे उन अधर्मी शत्रुओं के विरुद्ध—विशेषकर जंजीरा के सिद्दी और गोआ के पुर्तगेज़ों के विरुद्ध—धार्मिक युद्ध के लिए निरन्तर प्रचार करते रहे। उनका पत्र व्यवहार आज उपलब्ध है जिसे पढ़कर साधारण पाठक भी अनुमान कर सकता है कि उन्होंने किस प्रकार पूर्ण उत्साह से मरहठों के हिन्दू-धर्म, और काश्मीर से लङ्का रासकुमारी तक हिन्दुओ की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दृढ़ निश्चय का परिपोषण किया था।

स्वामी जी के शिष्यों—शाहूजी और बाजीराओ दोनों ने शीघ्र ही सिद्दी के अत्याचारों का बदला लेने के दृढ़ निश्चय कर लिया। मरहठा प्रतिनिधियों ने षड्यन्त्र करने आरम्भ कर दिये और वे कोंकण में सिद्दी और साथ ही पुर्तगेज़ों के साथ एक बड़ा युद्ध करने के लिए भूमि तैयार करने में जुट गए। दिल्ली से अराकाट तक उन्हें एक साथ ही कई शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा था इस लिए वे

उचित अवसर की प्रतीक्षा और निरीक्षण करने लगे। इसी समय वहां सिद्धियों में आन्तरिक युद्ध छिड़ गया जिसके फलस्वरूप गद्दी के एक दावेदार ने मराठा सेना से सहायता मांगी। मराठा सेनाधिपति ने झट उसका हाथ पकड़ लिया और शाहू जी को लिख भेजा कि मरहठों की कूटनीति सफल हो गई। इस अभिलषित समाचार को पा कर शाहू जी को रोमहर्ष हो आया और उन्होंने बाजीराओ को लिख भेजा। 'इस पत्र को मत पढ़ो, पहले घोड़े पर सवार हो जाओ, फिर इस पत्र को पढ़ना।'

सन् १७३३ में युद्ध आरम्भ हो गया। सह्यमाद्री से उतर कर मराठा सेनाओं ने तला-घोसला के किले को छीन लिया और मुसलमानों को पराजित करते हुए सिद्धी के प्रदेशों को भी जीत लिया। तत्पश्चात् बाजीराओ ने रायगढ़ के किले में आक्रमण करके पुनः उसे अपने आधीन कर लिया। इसी प्रसिद्ध किले पर शिवाजी का सिंहासन था। यहीं पर उनका राज्यतिलक हुआ था। स्वतन्त्रता का युद्ध आरम्भ होने के समय से इस पर मुसलमानों का अधिकार रहा था। जब महाराष्ट्रियों ने अपने राजा की राजधानी के पुनर्लाभ का समाचार सुना तो वे प्रसन्नता से फूले न समाये।

इसके साथ साथ मरहठों ने समुद्र में भी बहुत सी सफलताएं प्राप्त कीं। माना जी आंगरे ने सिद्धी के जङ्गी बेड़े को जंजीरा के समीप बुरी तरह से हरा कर भगा दिया। इस घटना से अंग्रेज भी घबरा उठे और उन्होंने पहले तो सिद्धी को गुप्त रूप से हथियारों और गोला बारूद से सहायता देनी आरम्भ की फिर खुल्लमखुल्ला सहायता देनी आरम्भ कर दी, तथा मरहठों के साथ लड़ने के लिए कप्तान हाल्डेन के नेतृत्व में एक सेना भेजी। परन्तु खांडोजी नरहर, खारडे, मोरे, मोहते तथा माथुरबाई जैसी देवियों ने उनके विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। अन्ततः सन् १७३६ में चिम्माजी अप्पा ने रङ्गस्थल में प्रवेश

किया और रेवास के समीप एबेसीनियों की सेना पर शानदार विजय प्राप्त की और उनके नेता का, जो कि कोंकण के हिन्दुओं का पक्का बैरी था और जिसने परशुराम के मन्दिर को मिट्टी में मिला दिया था, बध किया गया। इस प्रकार उसे अपने अपराधों का दण्ड अपना जीवन देकर पूरा करना पड़ा। उसी दिन उसके साथ ही उन्देरी का मुसलिम सेनापति और ११००० सैनिक भी लड़ते हुए मारे गए।

सारे कोंकण निवासियों तथा महाराष्ट्रियों ने अपने वीर विजेता को, जिसने कि हिन्दू धर्म के दुश्मनों से बदला लेकर उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और हिन्दू जाति के मान की रक्षा की थी, हार्दिक आशीर्वाद दीं। स्वयं राजा भी बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे लिख भेजा—"सत-सिद्दी रावण के समान ही एक भयङ्कर राक्षस था। उसका बध करके तुमने सिद्दियों को समूल नष्ट कर दिया है। आपकी सब जगह ख्याति हुई है।" शाहूजी ने उस नवयुवक सेनापति को अपने दरबार में बुलाकर उसका बहुमूल्य उपहारों तथा वस्त्रों से सम्मान किया। और ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो कि इस मरहठों के युद्ध के मुख्य प्रोत्साहक थे, जिन्होंने मरहठों को कभी हतोत्साहित नहीं होने दिया था, और जो जब कभी वे परस्पर की कलह अथवा स्पर्धा के कारण अपने कर्तव्य से ढील दिखलाने लगते तभी वे उन्हें हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के युद्ध के अध्यात्मिक तथा धार्मिक पहलू पर जोर देकर, उन्हें अपने देश और धर्म के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराते रहते थे—उनको अपनी भावनाओं के अनुसार परमात्मा अथवा अपने प्रिय शिष्य का धन्यवाद करने के लिए कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते थे। इस प्रकार अन्ततः स्वामी जी ने परशुराम के पवित्र स्थान को स्वतन्त्र कराने तथा धर्म की रक्षा करने में सफलता प्राप्त कर ही ली।

शामळांची क्षिति केली, कोकणांत धर्म राखिला।*

* शामल को क्षमा किया, और कोकण में धर्म की रक्षा की।

इस प्रकार सिद्दी को परास्त किया गया और वह हिन्दू शासन के अधीन एक छोटी सी रियासत के रूप में दिन काटने लगा। अब पुर्तगेज़ों को मरहठों के साथ अकेले ही लड़ना पड़ा। जब से मरहठों की शक्ति का विकास हुआ था तब से उनकी भारत में सहजप्राप्त विजयों और खम्बयात से लेकर लङ्का तक सारे पश्चिमी भाग पर किये हुए उनके अत्याचार मुसलमानों की अपेक्षा किसी तरह से भी कम भयङ्कर न थे। पुर्तगेज़ी कोंकण के पीड़ित हिन्दुओं ने जब देखा कि सिद्दियों के अधीन रहने वाले कोंकण निवासियों ने अपनी दासता की जंजीरें काट दी हैं तो उन्होंने भी मरहठा सेना से सहायता पाने की आशा प्रकट की। वहां के सारे हिन्दुओं में देश भक्ति की लहर दौड़ गई, और उन्हों ने विधर्मियों के हिन्दुत्व को नष्ट कर देने के पागलपन का मुकाबला बड़ी दृढ़ता से करना आरम्भ कर दिया। जब मराठी सेना उनकी सीमा पर पहुंच गई तो पुर्तगेज़ भय के कारण पागल से हो गए और उन्हों ने हिन्दुओं के आन्दोलन को दबाने के लिए घोर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। पुराने लिखित प्रमाणों से पता लगता है कि उन्होंने बड़ी अधिक मात्रा में हिन्दू ज़मींदारों की सम्पत्तियाँ जब्त कर लीं। सारे ग्रामों को घेर कर उन्हें तलवार के ज़ोर से ईसाई बना लिया। वे हिन्दू बच्चों को उठा कर ले गये। जिन व्यक्तियों ने अपने धर्म को न छोड़ा उन्हें या तो पकड़ कर क़तल कर दिया या उन्हें दास बना लिया। ब्राह्मण विशेष कर उनके रोष का शिकार हुए। उन्हें घरों में ही क़ैद कर दिया गया। सारी हिन्दू जाति को अपने उत्सव मनाने की भी मनाही कर दी गई। यदि कोई हिन्दू अपने उत्सव मनाने का साहस भी करता तो उसका घर घेर लिया जाता था। और उसके घर से सारे प्राणियों को धार्मिक न्यायालयों के सम्मुख पेश किया जाता। वहां उन्हें या तो ज़बर्दस्ती से ईसाई बना लिया जाता था या उन्हें दास बना कर बेच दिया जाता था अथवा

उनका वध कर दिया जाता था। परन्तु इन निर्दयतापूर्ण यातनाओं के सम्मुख भी हिन्दू-नेता पुर्तगेज़ी शासन की इन राक्षसी आज्ञाओं का अवरोध करने पर ज़ोर देते रहे। सहस्रों व्यक्ति पुर्तगेज़ियों के रोष का शिकार बने। अन्त में हिन्दू-जनता के नेताओं —वासी (बसीन) और दूसरे प्रदेशों के देशमुखों और ईसाइयों ने बाजीराओ और शाहूजी के साथ गुप्तरूप से पत्र-व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने उन लोगों को अपनी स्वतन्त्रता तथा हिन्दू धर्म और देश की मान रक्षा के लिये पुर्तगेज़ों पर आक्रमण करने पर बाधित किया। वीर, साहसी, सर्वप्रिय और हिन्दुओं के हिन्दू—मलाद के सरडीसाई अन्ताजी रघुनाथ ने पुर्तगेज़ी आज्ञा का खुले रूप से उल्लङ्घन किया। और साथ ही उसने अपनी जागीर के लोगों को भी इस आज्ञा को भङ्ग करने के लिये प्रोत्साहित किया। उसने अपने धार्मिक त्योहारों को खूब मनाया। परिणाम स्वरूप वह पुर्तगेज़ियों के अत्याचारों का शिकार बन गया। उसे बन्दी बनाया गया और गोआ के धार्मिक न्यायालय के कठोर परीक्षण के लिए भेजा गया। हिन्दुओं का सौभाग्य समझिये कि वह किसी प्रकार वहां से भाग निकला और सकुशल पूना पहुँच गया। उसने एक गुप्त आयोजना की व्यवस्था की। उसने बाजीराव से प्रतिज्ञा की जब मरहठी सेना पुर्तगेज़ी प्रदेश में प्रवेश करेगा तब वे उनकी सब प्रकार से सहायता करेंगे और उनका हर प्रकार से पथ-प्रदर्शन करेंगे। साथ ही उसने बाजीराओ को विश्वास दिलाया कि पुर्तगेज़ी कोंकण के सब हिन्दू आपको अवतार समझते हैं। उनका यह पूर्ण विश्वास है कि आपका जन्म हिन्दुओं के अधर्मी वैरियों को दण्ड देने के लिए ही हुआ है। सारी प्रजा बड़ी उत्सुकता के साथ, दैवी मुक्तिदाता के रूप में आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

यद्यपि मरहठे उस समय उत्तर में कई लड़ाइयां लड़ रहे थे और उन्हें सारे भारत में युद्ध करने के कारण बहुत खर्च करना पड़ रहा था तो भी बाजीराओ ने कोंकणनिवासी अपने सहधर्मियों और देशवासियों

की करुणापूर्ण पुकार को अनसुना नहीं किया। बड़ी तीव्र गति, नीति तथा परिश्रम से बाजीराओ ने देवी पार्वती के उपलक्ष में एक बड़े तथा अपूर्व महोत्सव के बहाने पूना में एक बड़ी भारी सेना एकत्रित कर ली। सब को काम सम्हाल कर भविष्य में होने वाले युद्ध की रूप-रेखा तैयार की गई। चिम्माजी अप्पा को सेनापति बनाया गया। रामचन्द्र जोशी, अंताजी और रामचन्द्ररघुनाथ तथा अन्य सरदारों और नायकोंको भिन्न२ मोर्चों पर भेजा गया। सन् १६३७ में महरठी सेनाओंने पुर्तगेजों के 'थाना' के किले पर आक्रमण कर दिया, पुर्तगेजों ने अंत समय तक मुकाबला किया पर अन्त में उन्हें किला मरहठों के हवाले करना ही पड़ा। इस विजय की प्रसन्नता में उन्होंने सलसट्टी पर भी धावा बोल दिया। शङ्करजी केशव ने अरनाला के किले पर अधिकार जमा लिया और जोशी ने धारती और पारसिक पर विजय प्राप्त कर ली। गोआ के वायसराय को इन आपत्तियों के कारण बड़ा दुःख पहुँचा। परिणामतः उसने एक बड़े शूरवीर योद्धा एण्टोनियो को इस युद्ध को जारी रखने के लिये भेजा। योरुप से और भी फौज मंगवा भेजी। इस प्रकार सेनाओं को एकत्रित करके ऐण्टोनियो ने एक बड़ा भीषण आक्रमण किया। पैडरोमैलो की अध्यक्षता में ४५०० सिपाहियों ने थाना के किले को दोबारा अपने अधीन करने के लिए आक्रमण कर दिया। उधर 'थाना' का किला मल्हारराओ के अधीन था। वह भी पूरा कर्मवीर सिपाही था। बड़ी घमसान लड़ाई हुई क्योंकि दोनों पक्ष एक समान थे, परन्तु मरहठों के तोपखाने ने उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया। यह देखकर वीर पेडरो-मैलो ने और सेनाओं को सङ्गठित करना आरम्भ किया पर एक गोले से उसका काम तमाम हो गया। उसकी मृत्यु होते ही पुर्तगेज़ी सेना जहाज़ों में बैठ कर दौड़ भागी। एक घोर युद्ध के पश्चात् मरहठों ने 'माहिम' पर भी अधिकार कर लिया। उधर वैनकटराओ घोरपाडे बढ़ता २ गोआ के समीप 'राखोल' तक पहुंच गया। अब ऐसे प्रतीत होने लग पड़ा था

कि पुर्तगेज़ों की शक्ति पूर्णतया नष्ट हो जायगी।

उसी समय नादिरशाह के आक्रमण का समाचार पहुंचा। यह भारत के लिये सबसे बड़ा खतरा था। मरहठे ही हिन्दुओं की एकमात्र शक्ति थी जो उसका मुकाबला कर सकती थी। अतः अब उनके सामने यह एक और आपत्ति आ पड़ी। इस आक्रमण ने पुर्तगेज़ों के जीवन की अवधि कुछ और बढ़ा दी। बाजीराओ इस परिस्थिति को ताड़ गये और उन्होंने लिख भेजा—"पुर्तगेज़ों के साथ युद्ध तो शून्य के समान ही है। भारत में अब हमारा एक ही दुश्मन है। इसलिये सारे भारत को सङ्गठित हो जाना चाहिये। मैं अपनी मरहठा सेना को नर्मदा से लेकर चम्बल तक फैला दूंगा और फिर देखूंगा कि किस तरह नादिरशाह दक्षिण की ओर बढ़ने का साहस करता है।"

अतः उसने दिल्ली, जयपुर और अन्य उत्तरी राज्यों के दर्बारों में स्थित मरहठा प्रतिनिधियों को आज्ञा दी कि आप लोग केवल मरहठों का ही नहीं अपितु राजपूतों, बुंदेलों और मरहठों सब का एक सम्मिलित सङ्गठन करो। आजकल उस समय के मरहठा नीतिज्ञ का एक छपा हुआ पत्र मिलता है जिसे पढ़कर यह पता लगता है कि किस प्रकार हिन्दुओं ने मुगल सम्राट् को गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर उदय-पुर के महाराणा को भारत के शासन पर बिठा देने की आयोजना की थी।

मराठा नेता, बाजीराओ का उत्सुक हृदय हिन्दुओं की विस्तृत विजयों की विस्तृत आयोजनाएं कर रहा था। उसके पास इतने द्रव्य-साधन थे कि वह जहां एक ओर बसीन को घेरने और पुर्तगेज़ों के साथ लड़ने के लिए फौज भेज सकता था वहां दूसरी ओर उसके पास नादिरशाह को मार भगाने के लिये भी असंख्य सेना थी। अतः पुर्तगेज़ों को शीघ्र ही पता लग गया कि नादिरशाह के आक्रमण के कारण भी उनके घेरे में कोई दुर्बलता नहीं आ सकी।

गोआ के वायसराय को एक के बाद दूसरे पुर्तगेजी किलों के छिन जाने के समाचार पहुँचने लगे। सिरगिाओं, तारापुर तथा दहानु के किलों को मरहठों ने अल्प समय में ही अपने अधीन कर लिया और उनकी सेनाओं को यमपुरी पहुँचा दिया। आक्रमणकारियों तथा अभिरक्षकों की वीरतापूर्ण कथा बड़ी सुप्रसिद्ध है। उसे इस छोटी सी पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णन करने की कोई आवश्यकता दिखाई नहीं देती। मरहठे इस सारे ही युद्धकाल में बड़ी भयङ्करता से लड़ते रहे। इसका वर्णन हम एक प्रत्यक्ष साक्षी के मुख से कराते हैं। उसका कथन है—"यहाँ तक कि बड़े २ अधिकारी भी इस युद्ध में अपने स्थानों पर खड़े होकर लड़ने लग पड़े। अपने प्यारे नेता बाजीराओ की धिक्कारों से बचने के लिए वे अपनी जानें हथेली में लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़े। उधर पुर्तगेज़ों की ओर भी एक सेनापति के पीछे दूसरा सेनापति हाथ में तलवार लेकर युद्ध-अग्नि में कूदने से न झिझकता था। मरहठे आक्रमण करते पर बड़ी हानि उठा कर उन्हें पीछे हटना पड़ता। वे बार-बार हमले करते पर हर समय पीछे धकेल दिये जाते। दोनों ओर का भयङ्कर नुकसान होने लगा। कई बार तो मरहठों की अपनी सुरंगें ही फट जाती जिसके कारण उनके सहस्रों सिपाही मारे जाते। पर बदला लेने वाली उस दृढ़-प्रतिज्ञ मरहठा सेना ने हार न मानी। उन्होंने १८ बार आक्रमण किया। पुर्तगेज़ों ने भी उन्हें १८ बार ही पीछे धकेल दिया। पर हर बार मरहठों का उत्साह बढ़ता ही गया, घटा नहीं। इस प्रकार घेरा पड़ा ही रहा। नादिरशाह आया भी और वापिस भी चला गया पर वह घेरा ज्यों का त्यों ही पड़ा रहा। बसीन पर फिर भी अधिकार न किया जा सका। अन्त में चिम्मा जी अप्पा निराश हो गया और क्रुद्ध होकर अपने योद्धाओं को गर्ज कर कहने लगा—"देखो! मैं अवश्य बसीन के किले में प्रवेश करूंगा। यदि आप मुझे आज जीवित अवस्था में वहां नहीं ले जा सकते तो कल मेरे सिर को अपनी तोपों द्वारा उस किले की दीवार तक फैंक देना ताकि मैं अपने मृत्यु के पश्चात्

तो किले में प्रविष्ट हो जाऊँ।" ऐसी अदम्य वीरता भरे शब्दों ने उन योद्धाओं में जोश भर दिया। वे सिर-धड़ की बाज़ी लगा कर रणक्षेत्र में कूद पड़े। माना जी आंगरे, मल्हारराओ होल्कर, रानोजी शिंडेराव एक दूसरे से पहले दीवारों तक पहुँचने की कोशिश करने लगे। इस समय एक और खंदक भक से उड़ गई। मरहठे अदम्य साहस के साथ आगे बढ़े और खण्डहरों में जाकर डट गये। पुर्तगेज़ों की अपूर्व वीरता उन्हें अपने मोर्चों से पीछे न हटा सकी। पुर्तगेज़ अब अधिक समय तक मरहठों के सामने न ठहर सके और उन्होंने हथियार डाल दिये। मरहठों का गेरुआ झंडा हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति के उत्पीड़िकों के ऊपर फहराने लगा। उसे बसीन के ऊपर गाड़ दिया गया। आकाश हिन्दू-धर्म के जयकारों से गूंज उठा।

अब सारा ही कोंकण प्रदेश स्वतन्त्र हो चुका था। इसके पश्चात् कभी पुर्तगेज़ सिर न उठा सके। परन्तु वे गोआ में उपद्रव खड़े करते रहे। उनका वहां भी नाश कर दिया जाता पर मरहठों को इससे और अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने थे इसलिए उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। मरहठों ने समुद्र तथा पृथ्वी द्वारा आक्रमण करके पुर्तगेज़ों की शक्ति को, जो कभी एशिया के समुद्रों में गुडहोप अन्तरीप से लेकर पीले समुद्र तक अकंटक राज्य भोगती थी—नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके पश्चात् उन्हें कभी हिन्दुओं के विरुद्ध हाथ उठाने का साहस नहीं हुआ।

अब अनुमान कीजिये कि उन हिन्दुओं के मन में कितनी प्रसन्नता भर गई होगी। इन विदेशियों से छुटकारा पाकर उन्होंने कितनी शान्ति का अनुभव किया होगा। जो कभी विदेशियों द्वारा शासित किये जाते थे, जिनका यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि वे सदा शासित किये जाने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, अब जब कि उन महाराष्ट्र वीरों ने उनके दुश्मनों को मार २ कर भगा दिया तो वे राष्ट्रीय गौरव और विजय गर्व से फूले न समाते थे। कई शताब्दियों से पुर्तगेज़ी-

कोंकण के हिन्दुओं ने हिन्दू ध्वजा को वहां फहराते नहीं देखा था, अब उन्होंने विदेशियों की खोपड़ी को तोड़ दिया और अपनी जाति तथा धर्म के प्रति किये गये अत्याचारों का जी भर कर बदला लिया।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी के संवाददाता ने इस विजय के समाचार को इन शब्दों में लिख कर भेजा—"यह वीरता, शक्ति और विजय—ये सारे कार्य उस प्राचीन समय के दिखाई पड़ते हैं जब देवता भारत में अवतीर्ण हुआ करते थे। वे लोग वास्तव में धन्य हैं जो इन विजय के दिनों को देखने के लिये जीवित बच रहे हैं, और इन व्यक्तियों से भी वे और अधिक भाग्यशाली हैं जो इस विजय को सम्भव बनाने के लिये अपने प्राणों की आहुतियाँ दे चुके हैं।"

१०

नादिरशाह और बाजीराओ

बघूं नादिरशाह कसा पुढें येतो तो !* —बाजीराओ

जिस प्रकार मरहठों की सेना कोंकण में शानदार सफलताएं प्राप्त कर रही थी, वैसे ही अन्य स्थानों में भी वह बड़ी शान से फैल रही थी। बाजीराव ने मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड को विजय करके हिन्दू-राज्य की सीमा चम्बल तक पहुंचा दी। किन्तु इतने पर ही वह सदा के लिये सन्तुष्ट न हो गया था, क्योंकि उसे तो एक महान् हिन्दू-राज्य स्थापित करना था, जिसके अन्दर सारा भारतवर्ष सम्मिलित हो सके और हिन्दुओं के सारे तीर्थ स्वतन्त्र हो जायँ; ताकि वे हिन्दू-धर्म के शत्रुओं और नास्तिकों के स्पर्श से अपवित्र न हों। इसलिये उसका यह कर्त्तव्य कोंकण के परशुराम के पवित्र मन्दिर के स्वतन्त्र करने तक ही सीमित न रहा, क्योंकि काशी, गया, मथुरा अब भी इन विधर्मियों के शासन से

---

* देखें नादिरशाह कैसे आगे बढ़ता है।

पीड़ित थे। इस प्रकार हमें बाजीराव और दूसरे मरहठे सरदार उन पवित्र स्थानों को, पुरन्धर और नासिक की भांति, स्वतन्त्र कराने के लिए अविश्रान्त प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कोंकण में जल और स्थल की लड़ाई लड़ते हुए मरहठों को किसी भयंकर आपत्ति की सम्भावना भयभीत नहीं कर सकी थी। अतएव बाजीराव ने मुग़ल-सम्राट को धमकी दी कि यदि मुझे अन्य मांगों के साथ-ही-साथ काशी, गया, मथुरा और अन्य पुण्यक्षेत्र न मिले, तो मैं दिल्ली पर चढ़ाई कर दूंगा। इस भय ने दिल्ली के यवन नेताओं को अपनी सारी शक्तियां एकत्रित करने पर विवश कर दिया, और बाईस सेनाध्यक्ष इन हिन्दू-वीरों का सामना करने को भेजे गये। परन्तु जब किसी प्रकार भी वे मरहठों पर सफलता प्राप्त न कर सके तो अपने आपको रिझाने के लिये उन्होंने एक बनावटी विजय-समाचार बढ़ा चढ़ा कर मुगल-बादशाह को लिख भेजा कि बाजीराओ एक महान् युद्ध में—जिसका कि वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं था—पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है और मरहठे ऐसी बुरी तरह खदेड़े गए हैं कि अब वे उत्तर भारत में कभी न दीख पड़ेंगे। इस समाचार को सुन कर मुगल-बादशाह खुशी से फूला न समाया और उसने असभ्यता के साथ मरहठा-राजदूत को दिल्ली से निकलवा दिया। साथ ही इस बड़ी विजय के उपलक्ष में शानदार उत्सव मनाने की आज्ञा दी।

दिल्ली के इन बनावटी कार्यों का समाचार पाते ही बाजीराओ ने एक विकट हंसी हँसी। उसने अपने मन में कहा "अच्छा, मैं अपनी सेना को दिल्ली के किले की दीवार तक ले जाऊंगा और मुगल-सम्राट् को उस की राजधानी के शोलों के शोकयुक्त प्रकाश में अपनी शक्ति का परिचय दूंगा।" उसने अपना प्रण पूरा किया। संताजी यादव, तुकोजी होल्कर और शिवाजी तथा यशवन्तराओ पवार को साथ लेकर उसने शीघ्र ही दिल्ली के फाटक को जा खटखटाया। मुगल-बादशाह अपनी शाही फौज से एक के बाद एक सेना भेजने लगा, लेकिन प्रत्येक को पराजित

होना पड़ा। अब तो उसे अपनी जान की पड़ गई और बनावटी स्वप्न देखने की मूर्खता का फल भोगना पड़ा। यह पहला ही मौका था जब मरहठा-शक्ति ने खुल्लमखुल्ला दिल्ली के दरवाजे पर धक्का देकर उसे हिला दिया। निज़ाम को मरहठों की उत्तर भारत की यह विशाल उन्नति असह्य हो गई, अतः वह ३५००० सिपाही और उस काल के सर्वोत्तम भारतीय तोपखाने के साथ सिरोंज के लिए रवाना हुआ। राजपूतों ने भी मरहठों के विरुद्ध निज़ाम के साथ मिल जाना उचित समझा! परन्तु शीघ्र ही बाजीराव उन्हें रौंदता हुआ आ पहुंचा और मरहठा सेनापति की प्रवीणता, यद्ध-कुशलता और वीरता ने निज़ाम को फौरन अनुभव करा दिया कि वह पुनः एक बार मरहठों का शिकार बन गया है। मरहठों की लगातार चढ़ाई और पीछा करने से विवश होकर उसने भूपाल के किले में छिप कर अपनी जान बचाई और वहीं से अपनी तितर-बितर हुई सेना को एकत्रित करके फिर आक्रमण करने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन मरहठी सेना मुसलमानी और राजपूती फौजों की अपेक्षा अधिक सुसज्जित थी। उन्होंने निज़ामी सेना को घेर लिया और वह भूखों मरने लगी। नामी-गरामी मुसलमान जेनरल से कुछ करते न बन पड़ा। आखिरकार बाजीराव की शर्तों के अनुसार उसे सन्धि करनी ही पड़ी।

ठीक इसी समय मुसलमानों का एक दूसरा षडयन्त्र फलीभूत हुआ। नादिरशाह सिंध-नदी पार करके आ पहुंचा। इससे मुसलमानों के हृदय में अपने मरते हुए बादशाह को फिर से ज़िन्दा करने की आशा बलवती हो गई। औरङ्गज़ेब की परम्परा में पले और शिक्षित निज़ाम तथा अन्य मुसलमान सरदारों ने नादिरशाह के साथ इस आशा पर भाई-चारे का नाता जोड़ लिया कि कम-से-कम वह उस कार्य को पूरा करेगा जिसे भीरू मुगल न कर सके थे, और महाराष्ट्र-मण्डल के हिन्दुओं की बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करके मुसलमानी साम्राज्य को एक बार फिर पूर्ण गौरव और शक्ति की चोटी पर पहुंचा देगा। यदि

बाजीरावो हिन्दू सेना लेकर इस भयानक विदेशी को रोकने के लिये निर्भयतापूर्वक कटिबद्ध न हुआ होता, तो ऐसा होने में कुछ सन्देह भी न था।

दबने या भयभीत होने के स्थान पर बाजीराव की कल्पना-शक्ति जाति के इस बड़े संकटपूर्ण समय पर और भी ऊँची उड़ने लगी। नादिरशाह के आने पर उसे एक बहुत उत्तम अवसर दिखाई देने लगा। वह सोचने लगा कि जो हिन्दू-इतिहास सौ वर्ष में पूरा होता, वह अब केवल एक वर्ष में ही संपूर्ण हो जायगा। उसके योग्य राजदूत उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न राजदरबारों में बड़ी चतुरता और उत्साह के साथ कार्य कर रहे थे और सेनापति रणक्षेत्रों में ख्याति प्राप्त कर रहे थे। जिस प्रकार पोवार, शिण्डे, गुजर, ऐङ्गरे और दूसरे मरहठे-जनरलों ने युद्धविद्या में नाम और सफलता प्राप्त की थी,वैसे ही व्यांस्कोजी, विश्वास राओ, दादाजी, गोविन्दनारायण, सदाशिव, बालाजी, बाबूराव मल्हार और महादेव भट्ट आदि राजनैतिक विषयों के पण्डित समझे जाते थे और उन लोगों ने उतनी ही सफलता भी प्राप्त की थी।

वास्तव में इन महाराष्ट्र-राजनीति विशारद पुरुषों ने ही इस हिन्दू-आन्दोलन के उच्च आदर्श और राजनीतिक सिद्धान्त को उचित रीति से स्थिर रक्खा। वे बड़ी योग्यता से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते रहे जिसमें मरहठे सैनिक सफलतापूर्वक कार्य करने में अग्रसर रहें। इन राजनीतिज्ञ पुरुषों के पत्र-व्यवहार अब छपे हुए मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक मरहठा राजनीतिज्ञों, कूटनीतिज्ञों, योद्धाओं तथा मल्लाहों की आयोजनाओं, आशाओं और आश्चर्यजनक प्रयत्नों के महत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। उनके ये प्रयत्न केवल एक, और एक ही आशा तथा उद्देश्य लिये थे वह यह कि एक ऐसा दृढ़ हिन्दू-राज्य स्थापित हो, जो हिन्दू-जाति की राजनैतिक स्वतन्त्रता का रक्षक और पोषक हो। मरहठों की इसी आयोजना को नष्ट करने के लिये, औरङ्गजेबी शिक्षा-प्राप्त मुसलमान-राजनीतिज्ञों ने नादिरशाह को बुलाया, क्योंकि वे मरहठों

के उत्कर्ष को नहीं देख सकते थे। वे प्रत्यक्ष तथा गुप्त दोनों रीतियों से उसे सहायता भी देते रहे जिससे वह मरहठों के कुचलने में समर्थ हो सकें।

लेकिन नादिरशाह को फौरन ही मालूम हो गया कि उसे मई सन् १७३९ ई० में ऐसी हिन्दू-शक्ति का सामना करना है, जो उससे बिलकुल ही भिन्न है, जिसका सामना सन् ११२०—११२४ के बीच मुहम्मद गजनवी को करना पड़ा था। कूटनीति, राजनीति, देशभक्ति, उत्साह, सैनिक और सङ्गठन शक्ति के साथ-साथ मरहठों में आत्म-बलिदान का सर्वोच्च भाव भी मौजूद था। पर आत्म-बलिदान तथा इसी प्रकार की अन्य कारवाइयाँ केवल उस अवस्था में ही की जाती थीं जब उन्हें यह विश्वास हो जाता था कि ऐसे बलिदान से मरहठों की अपेक्षा शत्रुओं को ही अधिक हानि होगी। महाराष्ट्र के हिन्दू जब से अपनी मातृ-भूमि, अपने धर्म और जाति के नाम पर उठे थे तब से हर प्रकार से मुसलमानों से श्रेष्ठ सिद्ध हुए थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि इन लड़ाइयों से हम भगवान् राम और कृष्ण की इच्छाओं को पूर्ण कर रहे हैं। वे नादिरशाह से नहीं डरते थे। मरहठा राजदूतों और कूटनीतिज्ञों ने बाजीराओ को बड़े ज़ोरदार शब्दों में लिखा—"नादिरशाह कोई ईश्वर नहीं है। वह सारी सृष्टि का नाश नहीं कर सकता। वह किसी को अपने से अधिक शक्तिशाली जान लेने पर अवश्य सन्धि कर लेगा; बल की परीक्षा हो जाने पर ही मित्रता की बात आरम्भ हो सकती है। शान्ति सदा युद्ध के पश्चात् ही होती है। इसलिये मरहठा-सेना को आगे बढ़ने दो। यदि केवल राजपूत और दूसरे हिन्दू आप (बाजीराओ) के नेतृत्व में साहस के साथ सामना करें तो बड़े-बड़े कार्य सम्पादन हो सकते हैं। निजाम की सहायता पा लेने पर नादिरशाह लौट जाने वाला पुरुष नहीं है, बल्कि वह सीधे हिन्दू-राज्यों पर चढ़ाई कर देगा। सारे हिन्दू राजे, महाराजे तथा सवाई जयसिंह बड़ी उत्सुकता से आप (बाजीराओ)

के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि आप हमारे मरहठों का नेतृत्व करें तो हिन्दू सीधे दिल्ली पर चढ़ाई कर सकते हैं और मुसलमान बादशाह को गद्दी से उतार कर महाराणा उदयपुर को वहाँ के राज-सिंहासन पर बिठा सकते हैं।"

बसीन की चढ़ाई अभी तक जारी थी। मरहठी सेना करनाटक से लेकर कटक और इलाहाबाद तक युद्ध कर रही थी। लेकिन बाजीराओ ने एक क्षण की भी देर न की और उन मरहठी आशाओं को जिन्हें कि उनके प्रतिनिधियों ने उत्तर भारत के हिन्दुओं के हृदयों में उत्पन्न किया था, तथा उनके बड़े उत्तरदायित्व के भार को जिसे उन्होंने अपने ऊपर लिया था, तनिक भी हतोत्साहित न होने दिया। जब बाजीराओ के कुछ साथी भिन्न-भिन्न प्रकार की रायें प्रकट करने लगे तो उसने ऊँची आवाज में कहा—"ऐ मेरे शूरवीरो! शङ्का में पड़ कर क्या सोच रहे हो? संगठित होकर आगे बढ़ो। हिन्दू-पद-पादशाही का दिन बहुत समीप है। मैं अपनी सेना नर्मदा से चम्बल तक फैला दूंगा और देखूंगा कि किस तरह नादिरशाह दक्षिण की तरफ बढ़ने का साहस करता है।"

बदला लेने वाली इस हठी मरहठा प्रवृत्ति ने फ़ारस देश के विजयी की, हिन्दुओं के नाश करनेवाली, इच्छा को दबा दिया और उसे हतोत्साह करके नष्ट कर दिया। नादिरशाह ने बाजीराओ को मुसलिम धर्म का अनुयायी प्रकट करके एक लम्बा और हास्यास्पद पत्र लिखा और स्वयं चतुरतापूर्वक वापिस लौट गया। पत्र में उसने लिखा था—"मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि दिल्ली के मुग़ल बादशाहों की आज्ञा मानो, अन्यथा बलवाइयों की तरह दण्ड मिलेगा।' यह पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया और महाराज शाहूजी ने खुले शब्दों में १४ जून सन् १७३९ ई० को शाही दरबार में घोषित किया—"मरहठों के डर से नादिरशाह देश छोड़ कर भाग गया"।

नादिरशाह के इस प्रकार दुम दबा कर भाग जाने के कारण निज़ाम विपत्ति-सागर में डूब गया। नादिरशाह के साथ हिन्दुओं के

विरुद्ध भाग लेने और भूपाल की सन्धि की शर्तों को पूरा करने में हीला-हवाला करने पर उसे यथेष्ट दण्ड देने के लिए मरहठे दिल्ली की तरफ बढ़े। ठीक उसी समय उनका सबसे बड़ा अधिनायक बाजीराव २२ अप्रैल सन् १७४० ई० को,इस असार संसारसे नाता तोड़कर चल बसा।

बाजीराओ की मृत्यु के पश्चात् कोई भी दूसरा व्यक्ति हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के लिये उससे अधिक ईमानदारी और सफलता के साथ प्रयत्न न कर पाया। जब वह अभी बालक ही था, तभी से उसने अपनी जाति और धर्म के शत्रुओं के विरुद्ध तलवार उठायी थी और मरते दम तक उसे म्यान में न डाला था। हिन्दू-धर्म के शत्रुओं का सामना करने के लिये सेना ले जाते समय खेमे में ही उसकी मृत्यु हुई। सभी बड़ी बड़ी कठिन चढ़ाइयों में उसने रुहेलों, सिद्दी, मुगलों और पुर्तगेजों पर की थीं, कभी हार नहीं खाई थी। हिन्दू-पद-पादशाही के आदर्श को शीघ्र-तम प्राप्त करने के लिए उसने जो अविश्रान्त परिश्रम किया था वही उसकी अकाल-मृत्यु का कारण हुआ। नादिरशाह की आध दर्जन चढ़ाइयों से जितना धक्का हिन्दू-धर्म के आन्दोलन को लगता, उससे कहीं अधिक इस असामयिक मृत्यु के कारण लगा।

११

नाना तथा भाऊ

❀ "दशरथ देउनि राज्यश्रीस रामलक्ष्मणाचिया करीं
"प्रभाततारा देउनि जाई कांति आपुली सूर्यकरीं
"तशीच बाजीरावें हिंदु स्वातन्त्र्याची ध्वजा दिली
"या नरवीर नानांच्या वा भाऊंच्या हुद तं करीं' —महाराष्ट्र भाट

❀ जिस प्रकार दशरथ ने राम लक्ष्मण के हाथ में राज्य लक्ष्मी को दे दिया तथा जिस प्रकार प्रभात-तारा अपनी ज्योति सूर्य को समर्पण करके विलीन हो जाता है, उसी प्रकार बाजीराओ ने हिन्दू-स्वतन्त्रता की ध्वजा नरवीर नाना और भाऊ के शक्तिशाली हाथों में दे दी।

यद्यपि बाजीराओ का देहान्त हो गया लेकिन जो उत्साह वह लोगों के हृदय में भर गया था, वह न मरा। इसके पश्चात वे और भी दृढ़ होते गये। बाजीराओ के पुत्र 'बालाजी' उपनाम 'नानासाहब' और बसीन के विजेता चिम्माजी के पुत्र भाऊसाहब' की अध्यक्षता में मरहठे अधिक सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। बालाजी की अवस्था केवल १९ वर्ष की ही थी, तो भी वह अपने पिता के समय में ही युद्ध-क्षेत्र देख चुका था। उसने लोगों को दिखला दिया कि नेता होने के सारे गुण उसमें वर्तमान हैं। शाहूजी सदैव उसके गुणों की प्रशंसा किया करते थे और बाजीराव के मर जाने पर बालाजी को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा बड़ी धूम-धाम से की गई। उत्सव समाप्त होने पर महाराज शाहूजी ने इस नवयुवक को शिक्षा देते हुए एक पत्र अर्पण किया, जिसमें उत्साहवर्धक शब्दों द्वारा मरहठों के उन उद्देश्यों का वर्णन किया था जिनके लिये वे इस बड़े आन्दोलन में अपना बलिदान देते आ रहे थे। पत्र में राजा ने लिखा था—"तुम्हारे पिता बड़ी भक्तिपूर्वक अपने कार्य का सम्पादन करते रहे और उन्हें बड़ी सफलता भी प्राप्त हुई। उनकी इच्छा थी कि हिन्दू-शासन हिन्दुस्तान की अन्तिम सीमा तक फैले। तुम अपने पिता के सुयोग्य पुत्र हो, तुम्हें उनके आदर्श की ओर ध्यान देना चाहिये, उनकी जो हार्दिक अभिलाषा थी उसे पूर्ण करना चाहिये। अपने घुड़सवारों को अटक के पार ले जाओ।"

राजाज्ञा मानने वाले नाना और भाऊ साहब ने अपने प्राणों को खतरे में डाल कर भी शिवाजी द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को सफल बनाने का प्रयत्न किया। ऐसा करने के लिये तो उन्हें किसी उपदेश की आवश्यकता ही न थी, क्योंकि बाल्यकाल से ही उनका एकमात्र उद्देश्य हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करना ही था, यही उनकी यौवनावस्था की उत्कट अभिलाषा थी जिसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करने में भी उन्हें किञ्चित्मात्र हिचकिचाहट न हुई। शाहूजी ने अपने कारागार के दिन

दिल्ली में बिताये थे। उस समय शाही परिवार के लोग कभी कभी उस पर कृपादृष्टि डालते रहे थे, इसी कारण वह मुग़ल-दरबार की चापलूसी किया करते थे तथा उनके प्रति अपनी राजभक्ति दिखाया करते थे। उनकी ये बातें भी ये लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मन्त्रित्व ग्रहण करते ही शाहूजी ने बालाजी को पूना भेज दिया और राघोजी भोंसले को दक्खिन पर चढ़ाई करने के लिए आज्ञा दी।

शाहूजी के लौटने पर मरहठों में गृह-कलह आरम्भ हो गई, जिस से लाभ उठा कर सादातउल्ला जनरल की अधीनता में मुसलमानों ने प्रायद्वीप के सारे दक्खिन-पूर्वी भाग को जीत कर मुसलमानी-राज्य में मिला लिया और तंजौर के छोटे मरहठा-राज्य को दबाने लगे। तंजौर के महाराज प्रतापसिंह ने शाहूजी से सहायता मांगी। सादातउल्ला सन् १७३२ ई० में मर गया और उसका भतीजा दोस्तमुहम्मद आराकाट का नवाब बना। यह एक शक्तिशाली सरदार और मरहठों का कट्टर शत्रु था। १६ मई १७४० ई० को प्रातःकाल ही मरहठों ने तंग पहाड़ी रास्ते को पार करके दोस्त मोहम्मद की सेना पर दक्खिन की ओर बढ़ कर आगे पीछे और बगल से हमला कर दिया। थोड़े ही घण्टों की लड़ाई में मुसलमानी फौज नष्ट हो गई और दोस्तमोहम्मद मारा गया। मुसलमानी-राज्य के अन्याय से पीड़ित हिन्दू, अपने सहधर्मियों की इस विजय से बड़े प्रसन्न हुए और मरहठों के ध्येय को अपना ध्येय बना लिया। राघोजी नगरों और ग्रामों से लड़ाई के व्यय का भारी चन्दा वसूल करता हुआ अराकोट की ओर बढ़ा। सफ़दरअली और चन्दासाहब, जो क्रमशः दोस्तमुहम्मद के बेटे और दामाद थे, विलौर और त्रिचनापली में बड़ी भारी फौज लिये पड़े थे। राघोजी ने यह बात उड़ा दी कि क्यों कि इस युद्ध में मरहठों को बहुत आर्थिक हानि उठानी पड़ी है इसलिये उसने अराकाट छोड़ने का विचार किया है। वह सचमुच त्रिचनापली से ८० मील हट आया। चन्दासाहब, जो एक बड़ा कार्य्यकुशल और चतुर पुरुष था, मरहठों की इस चाल में आ गया और उसने १० हज़ार

आदमियों की फ़ौज लेकर हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान मदूरा पर चढ़ाई कर दी। हिन्दू-सेनापति मुसलमानों को इस तरह फन्दे में फंसा देख लौट पड़े और त्रिचनापली में तेज़ी के साथ जा पहुँचे। बड़े साहब ने, जो हिन्दुओं से बदला लेने के लिये तथा उनके तीर्थ-स्थान मदूरा को लूटने के लिए भेजा गया था, जल्दी से अपने भाई को सहायता पहुंचानी चाही पर राघोजी ने अपनी सेना का एक भाग भेजकर उसे बीच में ही रोक लिया। एक बड़ी भीषण लड़ाई हुई, जिसमें बड़ा साहब मर कर अपने हाथी से गिर पड़ा। मुसलमानों को पूर्ण हार हुई और उनके सरदार की लाश राघोजी के खेमे में लाई गई, जहां उसे कीमती कपड़े में लपेट कर राघोजी ने उसके भाई चन्दासाहब के पास भिजवा दिया। त्रिचनापली का घेरा महीनों तक जारी रहा। मुसलमानों ने अत्यन्त वीरता-पूर्वक मुकाबला किया पर उनसे कुछ न बन सका। अन्त में उन्हें उन हिन्दुओं से पराजित होना पड़ा जिन्हें वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा करते थे। राघोजी ने चन्दा साहब को क़ैद कर लिया और उसे सितारा भेज दिया और मुरारराव घोरपाड़े को १४ सहस्र सेना के साथ त्रिचनापली का प्रबन्ध करने के लिये नियत कर दिया। सफ़दरअली ने पहले ही मरहठों के सामने हथियार डाल दिये थे और उन्होंने इस शर्त पर उसे अराकाट का नवाब बनाना स्वीकार किया कि वह एक करोड़ रुपया मरहठों को दे और उसके बाप ने सन् १७३६ में जिन हिन्दू-राजाओं को गद्दी से उतार दिया था, उन्हें फिर से राजा बनावे।

जिस समय राघोजी दक्षिण में ऐसी सफलताएं प्राप्त कर रहे थे उन्हीं दिनों बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शासक अलीवर्दीखां से उसकी गवरमैंट की मुठभेड़ प्रारम्भ हो गई थी। मीर हबीब ने अलीवर्दी खां के खिलाफ़ मरहठों से सहायता मांगी और राघोजी के दीवान भास्करपन्त कोल्हाटकर ने, जो बङ्गाल की मुसलमानी शक्ति को नीचा दिखाने के सुअवसर की ताक में था, और चाहता था कि हिन्दू-राज्य की सीमा पूर्व में दूर तक बढ़ाई जाय, इस निमन्त्रण को प्रसन्नता-पूर्वक

स्वीकार किया। ४० हजार मरहठी घुड़सवार सेना मुसलिम प्रतिष्ठा को धूल में मिलाती हुई बिहार पार करके बङ्गाल में जा पहुंची। अलीवर्दी खां ने, जो किसी प्रकार से भी निकृष्ट नेता नहीं था, ज्योंही उन लोगों पर चढ़ाई की, मरहठों ने उसे बड़ी बुरी स्थिति में डाल दिया। उसकी रसद बन्द कर दी और फ़ौज को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उसे वापस लौट जाने पर विवश कर दिया। मीर हबीबअली ने भास्करपन्त से प्रार्थना की कि वह अपने विचार बदल दें, बरसात-भर बङ्गाल में रहें और लड़ाई के हरजाने का चन्दा शत्रुओं से वसूल करें।

इसके बाद मरहठे मुर्शिदाबाद पर चढ़ दौड़े जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने हुगली, मिदनापुर, राजमहल अर्थात मुर्शिदाबाद को छोड़ करीब करीब गङ्गा के पश्चिम में स्थित बङ्गाल के सभी जिलों पर अधिकार कर लिया। मरहठों ने बङ्गाल में विधर्मियों को नीचा दिखाया और हिन्दुओं ने सफलता प्राप्त की। इसलिये धूमधाम के साथ काली का पूजा करना निश्चित किया गया। ठीक उसी समय अलीवर्दी खां ने हुगली नदी को पार करके एकाएक मरहठों पर चढ़ाई कर दी और बङ्गाल की सीमा तक उनका पीछा किया। पर यह केवल थोड़े समय के लिये ही था, क्योंकि राघो जी शीघ्र ही लौट आया।

बालाजी भी एक दूसरी मरहठी सेना का सेनापति होकर बिहार में आ पहुँचा। देखने में तो वह शाही जेनरल की हैसियत से आया था, पर उसका वास्तविक उद्देश्य अपने लिये कर लगाना तथा राघो जी घोंसले के साथ अपना हिसाब किताब तै करना था। राघाजी और बाला जी में समझौता होते ही बालाजी हट गया और भास्करपन्त ने युद्ध की क्षतिपूर्ति और चौथ मांगी। अलीवर्दी खां ने अपने आपको उसके साथ लड़ने में असमर्थ समझ कर एक नई मक्कारी की युक्ति सोच निकाली। उसने हरजाने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक मेहमान और राजदूत की तरह भास्करपन्त को अपने खेमे में बुला भेजा, और ऐसे हत्यारों को खेमे में छुपा रखने का प्रबन्ध किया जो अलीवर्दी

खां के मुह से "काफ़िर को मारो" की ध्वनि निकलते ही उन पर हमला कर दें। उस भयंकर दिन राघोजी गायकवाड़ को छोड़ कर लगभग २० मरहठे अफसर मारे गये और राघोजी मरहठों की घबराई हुई सेना को लेकर शत्रुराज्य से भाग गया। किन्तु विजयानन्द में मग्न मुसलमानी सेना उसे नाश करने के लिये बार बार उस पर आक्रमण करती रही।

लेकिन मरहठों के इस आन्दोलन को, जिसे औरङ्गजेब की शाही शक्ति भी न दबा सकती थी, भला यह अचानक आक्रमण और हत्या क्योंकर दबा सकती? अलीवर्दी खां ने राघोजी को एक हास्य तथा मूर्खतापूर्ण पत्र में लिखा था, "परमात्मा का धन्यवाद है, धर्मात्माओं के घोड़े अधर्मियों से नहीं डरते और इस्लाम के शेर के इस प्रकार कार्य्य-रत रहते हुये मूर्ति-पूजक राक्षस उसका कुछ नहीं कर सकते। अतएव अब हमारी दया के प्रार्थी बनो, क्षमा-याचना करो, तभी सुलह हो सकेगी, अन्यथा नहीं।" राघोजी ने इस मूर्खतापूर्ण पत्र का जवाब देते हुए लिखा कि जब मैं हज़ारों मील की यात्रा करके इस्लाम के शेर से लड़ने के लिये गया उस समय तो वह सौ मील चल कर भी युद्ध करने का साहस न कर सका और ऐसी शब्दाडम्बर की लड़ाई बन्द करके अली-वर्दीखां के निमन्त्रण को अस्वीकार करते हुये उसने मरहठे घुड़सवारों को बर्दवान और उड़ीसा पर चढ़ाई करने तथा उन पर कर लगाने की आज्ञा दी। मरहठे वर्षों तक अलीवर्दी खां को परेशान करते रहे और जहाँ कहीं पहुँचे, उचित मालगुजारी लगा दी या मालगुज़ारी न लगा सकने पर युद्ध-व्यय का भारी चन्दा ही लगा दिया। वे सारे ज़िलों में फैलकर चारों ओर घूमने लगे और समयानुकूल कभी लड़ते, कभी भागते। अन्त में बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों में मुसलिम-शासक के लिये राज्य चलाना असम्भव कर दिया। मरहटे हार के डरसे रुकने वाले न थे और न नाश का ख्याल ही उन्हें निराश कर सकता था। उन्हें तो एकमात्र चौथ की ही चाह थी।

अन्त में 'इस्लाम के शेर' अलीवर्दी खां को सन् १७५० ई० में इन

"मूर्तिपूजक राक्षसों" से पूरा काम पड़ा और ऐसा भीषण सामना हुआ कि लाचार होकर उसे क्षमा मांगनी पड़ी और भास्करपंत को मारने के बदले उड़ीसा का राज्य, तथा बङ्गाल और बिहार पर १० लाख सालाना चौथ देने का भी वायदा करना पड़ा। इस प्रकार इन धर्म-रक्षकों को आखिरकार मूर्तिपूजक-विधर्मियों से क्षमा-याचना करनी ही पड़ी। क्या उन्होंने उस दिन भी अल्लाह का धन्यवाद किया होगा ?

दूसरे मरहठा-सेनापति भी उत्तर भारत की दृढ़ मुसलिम-शक्ति को उसी समय अत्यन्त सफलतापूर्वक छिन्न-भिन्न कर रहे थे, जिस समय राघोजी भोंसले बङ्गाल में। हठी रुहेले और पठान जो अब तक यमुना से नैपाल तक की भूमि के स्वामी थे और जिन्होंने सङ्गठित होकर एक शक्तिशाली सेना भी एकत्रित कर ली थी, मुग़लों के विरुद्ध डटे हुए थे। मुग़ल-बादशाह के वज़ीर को डर था कि वे मुग़लों का नाश करके भारत म पुनः पठान राज्य स्थापित करेंगे। उनकी इस अभिलाषा को धूल में मिलाने के लिए उसने मरहठों से सहायता मांगी ताकि वे उनको समूल नष्ट कर दें। मुग़ल-राज्य का नाश स्वयं चाहते हुए भी मरहठों को यह पसन्द नहीं था कि उनके लाभ को कोई दूसरी मुसलिम-शक्ति उड़ा ले ज़ाय। यही कारण था कि उन लोगों ने वज़ीर के निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार किया और उनके नेता मल्हारराव होल्कर और जयाजीराव शिण्डे यमुना नदी को पार करके कादिरगंज की ओर बढ़े। यहीं पठानों की सेना पड़ी थी। पठान बड़ी वीरता से लड़े पर उन्हें पराजित होना पड़ा। एक भारी विजय के साथ-साथ मरहठों ने मुसलिम-सेना का नाश कर दिया और दूसरे पठान-सरदार अहमदखां को, जो बड़ी शीघ्रता से अपने कादिरगंज के मित्रों को सहायता पहुँचाने आ रहा था, घेर लिया। अहमदखां फ़र्रुखाबाद में जा घुसा और उसकी मरहठों के साथ हफ्तों तक लड़ाई होती रही, पर उसकी शक्ति का ह्रास न हो सका क्योंकि उसको गङ्गा की दूसरी तरफ से रुहेलों की निरन्तर सहायता मिलती रही। अब मरहठों ने नावों का एक पुल बनाया और फ़ौरन कुछ सेना,

जो फ़र्रुख़ाबाद को घेरे हुए थी, पीछे छोड़कर गङ्गा पार उतर गये और मुख्य सेना ने पठानों और रुहेलों की ३० हज़ार संयुक्त-सेना पर आक्रमण करके एक भीषण संग्राम के बाद उसे धूल में मिला दिया। उधर अहमदखां ने फ़र्रुख़ाबाद से भाग जाने तथा उस बची हुई मरहठा सेना को जीतने का निष्फल प्रयत्न किया। मरहठों ने उसका पीछा किया और मुसलमान सेना को तितर-बितर कर दिया। खेमों, हाथियों, घोड़ों और ऊंटों क साथ-साथ उनका सारा सामान लूट लिया गया। इस बार उनके हाथ बड़ा धन लगा और वीरता तथा सफलता दोनों दृष्टियों से इस आक्रमण का वस्तुतः ही अत्युत्तम फल हुआ।

मरहठों से द्वेष रख और धर्मान्धता का जामा पहन कर पठानों ने काशी पर आक्रमण करके हिन्दू-मन्दिरों और पंडितों के साथ बड़ा अन्याय किया था। वे डींगें मार रहे थे कि काफिर कभी पठानों का सामना नहीं कर सकते; क्योंकि ईश्वर उनकी (पठानों की) ओर है। बहुत हद तक यह बात ठीक भी थी क्योंकि मरहठों को कभी उनका सामना करने का सौभाग्य ही न प्राप्त हो सका था; क्योंकि जब कभी कोई खुली लड़ाई होने लगती तभी पठान पीठ दिखाकर भाग जाते थे। आखिरकार मुसलमानों की भारी हार हुई और दूर तक बुरी तरह खदेड़े गये, जिससे हिन्दुओं को अपने मन्दिर और घरों की अप्रतिष्ठा का पूरा-पूरा बदला मिल जाने से संतोष हो गया। उस समय का हिन्दू-साहित्य विजय-गाथा से परिपूर्ण है। उस समय के पत्र इस विजय ध्वनि में लिखे दिखाई पड़ते हैं—

'पठानों ने काशी और प्रयाग की अप्रतिष्ठा की थी, पर अंत में हरिभक्तों की ही विजय हुई"" ""शत्रुओं ने काशी में हवा का बीज बोया, पर ईश्वर की कृपा से फ़र्रुख़ाबाद में उसे आंधी के रूप में काट लिया गया। धार्मिक सफलता के साथ साथ राजनैतिक सफलता भी कुछ कम न हुई क्योंकि मुसलमान-बादशाह ने डर कर मरहठों को अपने राज्य में चौथ वसूल करने की आज्ञा दे दी। मुग़ल राज्य का यही भाग

शेष था, जहां मरहठे चौथ न लगा सके थे। इस तरह मुल्तान (सिंध) पंजाब, राजपूताना और रुहेलखंड भी उनके आधीन हो गये, और "हरिभक्त" शांतिपूर्वक रहने लगे। वे अब भलीभांति यह दावा कर सकते थे कि अब मरहठों ने मुगलराज्य के वक्षःस्थल में अपनी संगीन घुसेड़ दी है। महाराष्ट्र-मंडल के नेता बाला जी ने इन महत्वपूर्ण घटनाओं के समाचार पाकर अपनी सेना को लिख भेजा, "आप लोगों का साहस अनुपम और वीरता प्रशंसनीय है। दक्षिण की सेनाओं ने नर्मदा, यमुना और गंगा को पार करके रुहेलों और पठानों जैसे विकट शत्रुओं को पराजित करके उनका नाश कर दिया। सेनापति और वीरो! आप लोगों ने वास्तव में असाधारण सफलता प्राप्त की है और आप ही इस हिन्दू राज्य के स्तंभ हैं। आप लोगों का नाम, ईरान और तूरान को पार कर बादशाह बनाने वालों की श्रेणी में हो गया है।" [१७५१ ई०]

महाराष्ट्र मंडल के प्रमुख लोगों ने एक बार फिर काशी और प्रयाग को अवध के नवाब और दिल्ली के वज़ीर से वापस लेने का उद्योग किया। हिन्दू स्वातंत्र्य-आन्दोलन के प्रतिनिधि होने के कारण वे काशी और प्रयाग जैसे सर्वोत्तम पुण्य तीर्थों को अब भी मुसलमानों के अधीन देखना अपमानजनक समझते थे। उस समय के पत्रों को पढ़ने से हमें पता चलता है कि मरहठे काशी और प्रयाग के लिये सर्वदा चिन्तित रहे हैं। किसी प्रकार किसी राजनैतिक चाल से काम चलता न देख मल्हारराव अधीर हो उठा और उसने यहां तक निश्चय कर लिया कि सीधे काशी पर हमला करके ज्ञानवापी के मन्दिर पर खड़ी मसजिद को गिरा कर हिन्दू-जाति के कलङ्क को सदैव के लिये मिटा दें, क्योंकि यह मसजिद हमेशा उन अशुभ दिनों की याद दिलाती थी जिन दिनों मुसलमानी हलाली झंडा हिन्दुओं के पवित्र मंदिरों के खण्डरों पर स्थापित हुआ था। लेकिन मुसलमानों के बदला लेने के डर ने ब्राह्मणों को भयभीत कर दिया था और उन्होंने मल्हारराव

से प्रार्थना की कि जब तक कोई सुन्दर अवसर न आ जाय, तब तब हमलें का विचार स्थगित रखिये। उन्होंने ऐसा इसलिये लिखा थ क्योंकि काशी के आस पास अब भी मुसलमानों का अधिक आतंव छाया हुआ था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कदाचित काशी के इन ब्राह्मणों ने उसी पत्र में अपनी इस पवित्र चिन्ता को भी प्रकट किया हो कि हम लोग ही, जो अपने जीवन की रक्षा के लिये आप को काशी पर आक्रमण करके जातीयता का बदला लेने से रोक रहे हैं, उस पाप के भागी होंगे, क्योंकि आपको इस शुभ कार्य से रोक रहे हैं।

सन् १७४६ ई० में शाहू जी का परलोक वास हो गया। तब से बालाजी ही, जिसे स्वयं शाहू जी "अधिष्ठाता" के अधिकार दे गये थे, महाराष्ट्रमंडल का अधिष्ठाता और जातीय मनोरथ और आदर्श का प्राण बन गया। यद्यपि घरेलू झगड़े और छोटे २ षडयन्त्र जो राजमहल में हुआ करते थे, कभी कभी बड़ा भीषण रूप धारण कर लेते थे, तथापि इस योग्य शूरवीर ने इससे बेपरवाह हो, मुगलराज्य के स्थान पर मरहठों के आधिपत्य में एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित करने का ध्यान ही प्रमुख रक्खा और इसके लिये अपने पूर्वजों से भी विशेष परिश्रम किया, यहां तक कि इस कार्य की पूर्ति के लिये उसे देशी, विदेशी, मुसलमान, ईसाई, एशियाई और यूरोपियन सभी से भारी लड़ाइयां लड़नी पड़ीं।

विदेशियों में विशेषतः फ्रांसीसी दक्षिण में अधिक शक्तिशाली हो रहे थे और बालाजी भी इससे अनभिज्ञ न था। पर उसे एक साथ ही हिन्दुस्थान के दूरस्थ भागों में भी बहुत से शत्रुओं के साथ युद्ध करना तथा उन असंख्य शत्रुओं का मुकाबिला करना पड़ रहा था, जो कि मरहठा शक्ति का नाश करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसलिये बालाजी ने उस समय फ्रेञ्चों के साथ मत्था न लगाना ही श्रेयस्कर समझा। लेकिन राजनीति के दांव-पेंच की उलझन ने उसे उनके साथ

रणक्षेत्र में उतरने के लिए बाधित कर ही दिया और बालाजी ने उन्हें उनके सहायक निज़ाम के साथ ऐसी बुरी तरह पराजित किया कि उन्हें १७५२ ई० में 'मालकी' में सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार गोदावरी और ताप्ती का राज्य मरहठों को मिल गया। इस प्रकार दक्षिण के सारे राजाओं और प्रजाओं के दिलों से अंग्रेज-शक्ति का प्रभाव नष्ट हो गया।

पेशवा ने, करनाटक और निचले दक्खिन के सारे नवाबों को दण्ड देने का काम पहले से ही आरम्भ कर दिया था। सवनूर के नवाब को कई लड़ाइयों में हरा कर उसे अपने राज्य का एक बड़ा भाग और शेष पर ११ लाख मालगुजारी देने को विवश किया। बालाजी भाऊराओ की संरक्षकता में ६० हजार मरहठा-सेना श्रीरङ्गपट्टम पहुँची, शिवर को पुनः अपने आधीन कर लिया और बलपूर्वक ३५ लाख रुपया चौथ वसूल किया तथा छोटे-छोटे मुसलमान-सरदारों को दण्ड भी दिया। इसके बाद बलवन्तराओ मेहेन्डल ने कड़ापा के नवाब पर चढ़ाई कर दी। निचले दक्षिण के सारे मुसलमान-सरदार, जो मरहठों के नाम से कांपते रहते थे, नवाब के साथ एकत्रित हो गये। अंग्रेज़ों ने भी उनकी सहायता की। वर्षाऋतु होने पर भी बलवन्तराओ ने उन पर आक्रमण किया और एक घोर तथा दो-टूक युद्ध के पश्चात् हज़ारों पठानों और उनके साथ नवाब को भी मार डाला। उसका आधा राज्य ले लेने के पश्चात् अराकाट के नवाब पर चढ़ाई कर दी। अंगरेज यहां भी मरहठों के खिलाफ़ नवाब के मददगार थे, पर नवाब या उसका कोई संरक्षक भी उनकी (मरहठों की) मांगों की उपेक्षा न कर सका और उन्हें शान्त करने के लिये ४ लाख रुपया देना पड़ा। सन् १७५६ ई० में मरहठों ने बंगलौर को जा घेरा, चीनापट्टम को अपने अधिकार में कर लिया और हैदरअली को, जिसके मन में सारे मैसूर का स्वामी बनने की धुन समाई थी, ३४ लाख रुपया देने पर विवश किया। बालाजी की अभिलाषा उसे उसी समय नष्ट कर डालने की थी, पर क्योंकि उत्तर में

मरहठे महान् युद्ध लड़ रहे थे इसलिए उसे निचले दक्षिण का काम अधूरा ही छोड़ आना पड़ा और परिणामतः वह अपनी सेनाओं को भी वापिस ले आया।

इसी बीच सन् १७५३ ई० में राघोबा ने अहमदाबाद ले लिया और दिल्ली में मरहठा-प्रभाव का विरोध करने के कारण जाटों से ३० लाख रुपया वसूल किया। इसी समय जोधपुर की गद्दी के लिए राजपूतों में घरेलू झगड़ा खड़ा हो गया। विजयसिंह के मुक़ाबले में रामसिंह ने मरहठों से सहायता की प्रार्थना की जो स्वीकार कर ली गई और दत्ताजी तथा जयप्पा ने स्वयं सेना लेकर सहायता के लिए प्रस्थान किया। इस युद्ध में बड़ा रक्तपात हुआ। ५० हज़ार की मरहठा सेना ने विजयसिंह को हरा दिया और वह भागकर नागोर चला गया। जयप्पा ने घेरा डाल दिया। लेकिन राजपूतों और मरहठों यानी हिन्दू-हिन्दू की लड़ाई बालाजी को अच्छी नहीं लगती थी, इसलिये उसने बार-बार शिन्डे पर ज़ोर दिया कि राजपूताने में सुलह करा दो और मरहठों के सबसे प्रिय कार्य, तीर्थ-स्थानों अर्थात् काशी और प्रयाग को मुक्त कराने का काम हाथ में लो।

पर उसी समय विजयसिंह ने ऐसा नीचतापूर्ण कार्य किया जिससे महाराष्ट्र भर में सनसनी फैल गई और सुलह होना असम्भव हो गया। आप लोगों को याद होगा कि विजयसिंह के चचा ने पिलाजी गायकवाड़ को अपने खेमे में आमन्त्रित कर मार डाला था। विजयसिंह ने भी उन्हीं का अनुकरण किया, यद्यपि वह जानता था कि पिलाजी की हत्या का बदला किस बुरी तरह लिया गया था। तीन राजपूत हत्यारे विजयसिंह के खेमे से भिखारियों का रूप धारण करके निकल कर जयप्पा के खेमे के सामने मरहठा घुड़शाला के पास गिरे हुए चनों को चुनने लगे और ज्यों ही अपने शरीर पर देह पोंछने का एक अंगोछा डाले जयप्पा स्नान के लिए बाहर निकले, हत्यारे झपटे और उनके शरीर में उन्होंने तलवारें घुसेड़ दीं। जयप्पा को प्राणघातक चोट लगी। दो हत्यारे पकड़े गये और एक भाग गया। राजपूत सेना ने तुरन्त ही निकल कर घबराई

हुई और सेनापति हीन मरहठा सेना पर आक्रमण कर दिया, ताकि उसको नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाये परन्तु शूरवीर सेनापति के असीम आत्मबल के कारण उनकी यह आशा फलवती न हुई। उसने अपनी मृत्यु-शय्या के पास रोते हुए साथियों को एकत्रित करके शत्रुओं का सामना करने के लिये उत्साहित किया। और उन्हें कहा कि स्त्रियों की तरह रोने से पहले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। अपने मरते हुए सरदार के इन उत्साहवर्धक वाक्यों ने मरहठा-फौज को क्रोध और जोश से भर दिया। मरहठों ने उन्हें फिर हरा दिया। दूसरे मरहठा सरदार भी शिन्डे की सहायता को दौड़ पड़े। अन्ताजी मानकेश्वर १० हजार सेना लेकर राजपूताने में जा पहुँचा और विजयसिंह के पक्ष-पाती तमाम राजपूतों को उचित दण्ड देने लगा। विवश होकर विजय सिंह ने रामसिंह का अधिकार मान लिया और सुलह की प्रार्थना की तथा मरहठों को अजमेर एवं अन्याय स्थानों की लड़ाई का खर्च दिया।

उसी समय बून्दी के अबोध राजकुमार की विधवा माता ने अपने शत्रुओं के खिलाफ शिन्डे की सहायता मांगी। दत्ताजी ने उसकी इच्छा-नुसार ही वह कार्य सम्पादन किया, जिस पर प्रसन्न होकर राजमाता ने ७५ लाख रुपये शिन्डे को इनाम दिया।

१२

सिन्ध की ओर प्रस्थान

*फेढ़न नवस नाहोरास गेले लाहो स जिंकित शेंडे।
अरे त्यांनी अटकें न पाव घडकन लबिले झेंडे ॥
सरदार पदरचे कसे कुणि सिंह जसे कुणि शार्दूल गेंडे ॥—'प्रभाकर'

इन्हीं दिनों राघोबा दिल्ली में बड़े बड़े काम कर रहा था। उसने

*मरहठों ने माहुर को अपने अधीन करके लाहौर को भी अपने आधिपत्य में ले लिया। तत्पश्चात अल्प समय में ही अटक तक पहुँच कर अपनी विजय पताका वहां भी फहरा दी। उनके जो सरदार थे, वे सिंहों, व्याघ्रों और गेंडों के समान साहसी और निर्भय थे।

ग़ाज़ीउद्दीन को शाही वजीर बनने में सहायता दी और 'कुरुक्षेत्र' तथा 'गया' मरहठों को देने के लिये बादशाह को मज़बूर किया। वह स्वयं आगे बढ़ा और उसने मथुरा, वृन्दावन, गढ़मुक्तेश्वर, पुष्पवती, पुष्कर और कई हिन्दू तीर्थ-स्थानों पर अधिकार जमा लिया। फिर मरहठों की एक टुकड़ी लेकर बनारस पर चढ़ दौड़ा और उसे भी जीत कर कब्ज़े में कर लिया। इस प्रकार हिन्दुओं की एक चिर-अभिलाषा पूर्ण हुई। राघोबा ने बड़े गर्व के साथ पेशवा को लिख भेजा कि उत्तर भारत के लगभग सभी पवित्र नगरों को मुसलिम-पंजे से छीन कर अपने अधिकार में कर लिया गया है। उन स्थानों पर भी—जिन्हें हिन्दू बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, मरहठों द्वारा हिन्दुओं की विजय-ध्वजा फहराने लगी है। इससे हिन्दुओं की स्वतन्त्रता और हिन्दू-पद-पादशाही के आन्दोलनों की राहनुमाई तथा प्रतिनिधित्व करने का मरहठों का दावा और भी न्याय-पूर्ण हो जाता है।

मुग़ल बादशाह ने सोचा कि मरहठे काफी बढ़ गये हैं इसलिये अब उनसे युद्ध छेड़ देना चाहिये। नया वज़ीर ग़ाज़ीउद्दीन मरहठों का मित्र था। ज्यों ही उसे पता लगा कि मुग़ल-सम्राट् छिप-छिप कर उसके और मरहठों के विरुद्ध साज़िश कर रहा है, उसने होल्कर को बुलाया। होल्कर ने भी ५० हज़ार सेना के साथ ऐसी आसानी से शाही फ़ौज को भगाया कि बेगमों की रक्षा करने वाला भी वहां कोई न रहा और वे मरहठों के हाथ पड़ गईं। ग़ाज़ीउद्दीन को साथ लिये मरहठा-फ़ौज दिल्ली में जाकर प्रविष्ट हो गई और महलों में जा करके बूढ़े बादशाह को गद्दी से उतार कर आलमगीर द्वितीय—अर्थात् संसार विजयी नाम से एक नये मनुष्य को गद्दी पर बैठाया। इस नाम के दो बादशाह हुये। पहला आलमगीर औरङ्गज़ेब था। उसने सोचा था कि वह अपने शाही क्रोध की सांस से हिन्दू-जीवन के टिमटिमाते चिराग को बुझा दूंगा। अल्लाह की क़सम खाकर उसने उस पर फूंक मारी, पर उसने उसकी दाढ़ी झुलस दी और शीघ्र ही उस अग्नि ने ऐसा भयङ्कर रूप धारण कर

लिया कि सह्याद्रि पर्वत को जा पकड़ा और उसमें से ऐसे शोले निकले जिमने लाखों मनुष्यों, मन्दिरों की चोटियों, कलशों, पहाड़ों और तराइयों तथा जल और स्थल सब को जा घेरा। इस प्रकार वह होमाहुति की एक प्रचण्ड अग्नि बन गई।

पहले आलमगीर ने मरहठों को पहाड़ी चूहों के रूप में देखा था, पर इन चूहों ने इतनी उन्नति की कि उनके पैने पंजों ने कितने ही मुसलमान-शेरों का पेट फाड़ दिया और उनका रक्त दूसरे आलमगीर की राजधानी में मरहठों के पैरों में बहने लगा। पहला आलमगीर शिवाजी को एक साधारण राजा भी स्वीकार न करता था; पर उसका दूसरा उत्तराधिकारी, आलमगीर द्वितीय, जो उसी का वंशज था अपने आप को तभी बादशाह कहला सका जब कि शिवाजी सन्तान ने कुछ कृपा करके उसे बादशाह बना रहने दिया।

हिन्दुस्तान की मुसलिम-दुनिया भयभीत हो गई। वह हिन्दू-राज्य की शक्ति तथा प्रताप देखकर अपार क्रोध में जलती-भुनती खाक होने लगी। रुहेले और पठान फ़र्रुख़ाबाद और दूसरी जगहों में पराजित हुए, वज़ीर तथा नवाब अपनी जगहों से हटाये गये, मौलवी और मौलाना काफ़िरों की उन्नति शील दशा देखकर 'हलाली ध्वजा' के घटते प्रताप का स्मरण कर कर अधीर होने लगे, यहाँ तक कि स्वयं बादशाह भी अपने राज्य को भालों की नोंकों पर स्थापित देखकर घबरा गया। अतः राज्यहीन तथा विवश होंने पर भी मुसलमानों ने मरहठों के नाश करने और बदला लेने की कसम खायी और गुप्तरूप से षड्यन्त्र रचने लगे। यह कहते आश्चर्य होता है—यद्यपि यह आश्चर्य की विशेष बात नहीं भी है—कि मरहठों के उत्तर भारत के इस उत्कर्ष से कुछ हिन्दू-राजे भी असन्तुष्ट हो गये और जयपुर के माधवसिंह, जोधपुर के विजयसिंह, जाटों तथा अन्यान्य छोटे-छोटे सरदारों ने अपने स्वाभाविक वैरियों के साथ मिलने में विलम्ब नहीं किया। उन्होंने मुसलमानों को उस हिन्दू-शक्ति को नष्ट करने के लिए एक षड्यन्त्र रचने के लिए उभारा, जो अकेले ही हिन्दू-

स्वतन्त्रता तथा हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों को नाश करने वालों का सामना पूर्णरूप से कर सकती थी, तथा उसके लिये तैयार थी। मुसलिम जगत् के नेताओं ने अपनी परम्परा नीति के अनुसार मूर्तिपूजकों तथा काफिरों के विरोध के लिये भारत के बाहर से अपने सहधर्मियों के बुलाने का निश्चय किया। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतवर्ष के मुसलमान मरहठों का किसी भी प्रकार से सामना नहीं कर सकते थे— न ही युद्ध में, न ही धोका देने में, न ही चालाकी में, न ही औरङ्गज़ेबी मक्कारी में।

नजीबखां रुहेला, जिसे मरहठों के नाश से हर प्रकार से लाभ था, तथा मल्का ज़मानी, जो किसी समय शाही महल में भीषण षड्यन्त्र-कारिणी स्त्री थी, और जिसे हिन्दुओं से भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करना असह्य था, इस भीषण षड्यन्त्र के नेता बने। इन लोगों ने अपने पूर्वजों का जिन्होंने ऐसे ही डर और आशा में नादिरशाह को बुलाया था, अनुसरण करने का निश्चय किया और गुप्त पत्र-व्यवहार द्वारा अहमदशाह अब्दाली के पास, विधर्मियों पर चढ़ाई करके मुसलिम-राज्य को बचाने की विनीत प्रार्थना लिख भेजी। अहमदशाह ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया क्योंकि इसमें उसका भी स्वार्थ छिपा हुआ था। हिन्दुस्थान पर विजय प्राप्त करने की उसकी चिर-अभिलाषा थी। पर असली और सब से बड़ा कारण, जिससे वह युद्ध छेड़ना चाहता था, यह था कि मरहठों का प्रताप और तेज़ तथा राज्य मुलतान के पास उसकी सीमा तक पहुँच गया था; और इसके बढ़ने का डर उसे प्रतिदिन लगा रहता था।

अहमदशाह ने पहले ही मुलतान और पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया था। लेकिन १७५० में थटा, मुल्तान और पंजाब को भीतरी तथा बाहरी आक्रमणों से बचाने तथा वहां शांति-स्थापना का काम मरहठों ने अपने हाथ में लिया था और वहां चौथ लगाने का अधिकार भी प्राप्त

कर लिया था। इसके अनुसार ही उन्होंने अपने अभिलाषित वज़ीर ग़ाज़ीउद्दीन को, १७५४ में, अब्दाली से पंजाब और मुल्तान वापस लेने में सहायता दी थी। यह उसे एक खुली ललकार थी। ठीक उसी समय नजीबखां के षड्यन्त्र ने मुहम्मद अब्दाली को पूर्ण विश्वास दिला दिया कि भारत के मुसलमान और नवाब उनकी मदद करेंगे। तभी से वह हिन्दुस्थान का शाही ताज पाने का स्वप्न देखने लगा और जो सफलता नादिरशाह भी न प्राप्त कर सका था उसे प्राप्त करने को उद्यत हो गया।

मुख्य-मुख्य मरहठे सरदारों को दक्खिन में संलग्न समझ कर उसने ८० हज़ार मनुष्यों की फौज लेकर सन १७५६ में सिन्धु नदी को पार कर पंजाब और दिल्ली को क़रीब २ बिना युद्ध के ले लिया और बादशाह की पदवी धारण कर ली। विजयी पठानों की परम्परानुसार वह क्रोधित भी हुआ और दिल्ली-निवासियों को कुछ घण्टों तक क़तल-आम की आज्ञा देकर अपनी शाही ताजपोशी की शान को पूर्ण किया। उन थोड़े ही घण्टों के भीतर १८,००० निरपराध मनुष्यों का निरंकुशता से वध किया गया। तत्पश्चात् वह मुसलमान-धर्म के रक्षक का पद मान तथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये हिन्दुओं के पवित्र-स्थानों और नगरों को, जिनको मरहठों ने अभी अभी वापिस लिया था, नष्ट करने के लिये रवाना हुआ। सब से पहले मथुरा उनका शिकार बना। लेकिन यह शहीदों की तरह समाप्त हुआ। ५,००० जाटों ने, जब तक उनके शरीर में प्राण रहे, मुसलमानो के इस टिड्डीदल का बड़ी वीरता-पूर्वक सामना किया। मथुरा पर क्रोध उतारने के बाद, मरहठों को अपमानित करने के लिये वृन्दावन पर चढ़ दौड़ा, पर गोकुलनाथ की रक्षा में एकत्रित सशस्त्र ४,००० नागों ने जिस वीरता से युद्ध करके उसकी अमर विजय की आशा को निराशा में परिणित कर दिया, वह चिरस्मरणीय है। २,००० वैरागी मारे गये, परन्तु उन्होंने अपने गोकुल-

नाथ की रक्षा करके शत्रुओं को भगा देने में सफलता प्राप्त की। तुरन्त ही अब्दाली आगरे को रवाना हुआ और शहर पर अधिकार जमाने के पश्चात् किले पर चढ़ दौड़ा। इस किले में ग़ाज़ीउद्दीन, पठानों या फारसियों से घृणा करने वाले मुसलमानों के साथ, जो भारत में पठानों या फारस वालों का राज्य पसन्द नहीं करते थे' छिपा बैठा था और मरहठों के आने की राह देख रहा था।

लेकिन उसी समय जयपुर, जोधपुर, उदयपुर तथा अन्य बहुत से दूसरे राजे क्या कर रहे थे ? वे मरहठों से घृणा करते और पूछते थे कि उन्हें हिन्दू-पद-पादशाही के आन्दोलन उठाने का क्या अधिकार है ? उचित तो यह था कि इस समय ये लोग उत्तर में हिन्दू-हितो की रक्षा करते और पृथक् २ अथवा संगठित होकर हिन्दू-धर्म या हिन्दू-पद-पादशाही को सुरक्षित रखते और इसमें अपने आपको मरहठों से सुयोग्य सिद्ध करते, पर ऐसा करने वाला एक भी मनुष्य न निकला। अहमदशाह अब्दाली लाखों मृतवत् हिन्दुओं के बीच से बिना रोक-टोक सीधे दिल्ली और फिर आगरा चला आया और घोषणा के अनुसार दक्खिन की ओर बढ़ा। झुण्ड-के-झुण्ड मुसलमान-राजपूत, जाट और दूसरे हिन्दू राजाओं तथा सरदारों के सामने "काफिरों को मारो" इत्यादि उच्चारण करते हुये, हिन्दुओं के मकानों, मन्दिरों और तीर्थों को कुचलते हुये अहमद अब्दाली के पास आने लगे। पर मरहठों के अतिरिक्त उनकी ओर उँगली उठाने वाला भी कोई न निकला।

अब्दाली के हमले का समाचार, महाराष्ट्र के पूनास्थित नेताओं के दिल पर नादिरशाह के हमले से कुछ विशेष प्रभाव न डाल सका। रघुनाथराव की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली सेना उत्तर की ओर भेजी गई। यह समाचार अब्दाली को आगरे के समीप मिला। वह एक चतुर और अनुभवी सेनापति था और उसने अपने जीवन में कई इनकलाब देखे थे। उसने सोचा कि और आगे बढ़ना तथा ऐसे भयानक शत्रु का मुका-

बला करना मृत्यु के मुख में पड़ना है, इसलिए मिले हुए को ही सुदृढ़ करने का निश्चय करके लौट पड़ा और दिल्ली पहुंचकर मल्का ज़मानी की लड़की से शादी कर ली ताकि वह अपने मुग़ल-शासन के दावे को दृढ़ बना सके। सरहिन्द की रक्षा के लिये १० हज़ार फ़ौज छोड़ कर और अपने लड़के तिमूरशाह को लाहौर का वाइसराय बना कर जितनी जल्दी आया था, उतनी ही जल्दी वापिस लौट गया।

मरहठों ने दक्षिण में फंसे होने पर भी जितनी जल्दी हो सका, चलकर अहमदशाह का बना बनाया सारा काम बिगाड़ दिया। सखाराम भगवन्त, गङ्गाधर, यशवन्त और दूसरे मरहठे-सेनापति द्वाबा में जा पहुंचे और विप्लव मचाने वाले रुहेलों और पठानों को नीचा दिखाया। इस प्रकार वज़ीर गीज़ीउद्दीन की जान बचाई। विट्ठल शिवदेव दिल्ली को रवाना हुआ और १५ दिन की घमासान लड़ाई के पश्चात् पठान-स्कीम के जन्मदाता और मरहठों के कट्टर शत्रु नजीबखां को जीवित ही पकड़ कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। वहाँ से मरहठी-सेना अब्दाली की लगभग १०,००० फ़ौज का सामना करने के लिये, जोकि अब्दुल समद की अध्यक्षता में सरहिन्द में पड़ी थी, चल पड़ी। फ़ौज को हरा कर अब्दुल समद को बन्दी कर लिया। अब सेना ने लाहौर की ओर बढ़ने का निश्चय किया। पर मरहठों की इस सफलता से अब्दाली का पुत्र वाइसराय तैमूर, जिसने पंजाब और मुल्तान अपने अधीन कर रक्खा था, ऐसा डरा कि उसे मरहठों का सामना करने का साहस ही न हुआ और लाहौर से भाग गया। रघुनाथराव ने बड़ी धूमधाम से लौहर में प्रवेश किया। जहानखां और तैमूर ने बड़ी चालाकी से पस्पा होने का उद्योग किया, पर मरहठों ने उनका ऐसा पीछा किया कि उनका हटना हार में परिवर्तित हो गया और सारी सेना, पुत्र और वाइसराय, जो मरहठों को कुचलने आये थे, अपनी सारी वस्तुओं को, जोकि जान की अपेक्षा कम मूल्यवान थीं, छोड़कर भाग निकले। उनके खेमे लूट लिये गये और बहुत बड़ी तादाद में सामान और नक़द रुपये हाथ लगे। इस

प्रकार "श्रीरामदासजी" द्वारा शिवाजी को दिया हुआ "गेरुआ झण्डा" आखिरकार हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा पर गाड़ दिया गया।

हिन्दू 'अटक' पर पहुँच गये। पृथ्वीराज की पराजय के पश्चात् यह पहला ही मौका था जब श्रुति-प्रसिद्ध पवित्र सिन्धुतट पर हिन्दुओं की गौरवान्वित पताका फहराने लगी और युद्ध में विजयी हिन्दुओं के घोड़े उसका स्वच्छ जल-पान कर निर्भीक हो अपनी परछाहीं देखने लगे।

मरहठों के इस विजय-समाचार ने हिन्दू जाति में बिजली का सञ्चार कर दिया। अन्ताजी मानकेश्वर ने रघुनाथराव को लिख भेजा "लाहौर ले लिया गया, दुश्मन को भगा दिया गया और सीमा-प्रदेश तक उसका पीछा किया गया। हमारी सेना सिन्ध तक पहुंच गई। सचमुच यह बड़ा आनन्दप्रद समाचार है! उत्तर के समस्त राजे, राव, सूबेदार और नवाब तथा अन्य लोग इससे प्रभावित होकर डर गए हैं। हमारी जाति के साथ किये हुए अत्याचारों का बदला केवल मरहठे ही ले सकते हैं। सारे भारतवर्ष का बदला केवल इन्होंने ही अब्दाली से लिया। मैं अपने भावों को शब्दों द्वारा आपके पास भेजने में असमर्थ हूं। वीरता के ऐसे काम किए गए हैं जो अवतारों की वीरता से कम नहीं हैं।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि स्वयं मरहठों को भी अपनी इस विजय पर विस्मय हुआ। द्वारिका से जगन्नाथ तक और रामेश्वर से मुल्तान तक, उनकी तलवार विजयी रही तथा उनके शब्द कानून बने। उन्होंने खुल्लम-खुल्ला भारत-राज्य के उत्तराधिकारी तथा रक्षक होने का ढिंढोरा पिटवा दिया और उन तमाम लोगों को, जो ईरान, तूरान या अफ़गानिस्तान और इंगलैण्ड, फ्रांस या पुर्तगाल से आये और इसमें बाधा डाली, नीचा दिखा कर अपनी मर्यादा की प्रतिष्ठा रक्खी। शिवाजी का 'हिन्दू-पद-पादशाही' का मनोरथ सामान्यतः पूरा हो गया। स्वामी रामदास की शिक्षा कर्तव्यरूप में परिणत हुई। मरहठे विजय-लाभ

करते हुए हिन्दू-ध्वजा को सिन्ध के तट तक ले गये। शाहूजी ने बाजी-राओ को ऐसा ही करने की आज्ञा दी थी। पर अब तो और भी आगे बढ़ने की सम्भावना प्रतीत होने लगी थी।

अटक की विजय ने राजनैनिक क्षेत्र में मरहठों का प्रभाव बढ़ा दिया। अब वह दिल्ली की चारदिवारी के अन्दर संकुचित नहीं रह सकता था। काश्मीर, काबुल और कंधार से मरहठों के यहां उनके प्रतिनिधि, भेदिये तथा राजदूत अधिकाधिक संख्या में आने लगे। एक समय वह था जब गद्दी से उतारे जाने पर हिन्दू राजे काबुल और फारस के मुसलमान-बादशाहों से सहायता मांगा करते थे। पर अब समय ने पलटा खाया। रघुनाथराव के पास प्रतिदिन काबुल और कन्धार से पद-च्युत राजाओं के प्रार्थना-पत्र आने लगे। ४ मई सन् १७५८ को सेनापति ने नाना साहब को लिखा—'सुल्तान तैमूर और जहानखां की सेनायें हरा दी गई हैं और उनके खेमे और सारी सामग्री हम लोगों के हाथ लगी है। केवल थोड़े व्यक्ति ही भाग कर ज़िन्दा अटक पार कर सके हैं। ईरान के शाह ने अब्दाली को पराजित कर दिया और स्वयं मुझे पत्र लिखा है जिसमें अनुरोध किया है कि मैं और आगे कन्धार तक बढ़ूं, क्योंकि हम दोनों की सम्मिलित शक्ति से नष्ट हो जाने पर ही अब्दाली अटक को हमारा सीमाप्रान्त स्वीकार करेगा। लेकिन मैं विचार करता हूँ कि हम अटक तक ही क्यों सीमाबद्ध हो जांय। अकबर से औरङ्गज़ेब तक क़ाबुल और कन्धार के दोनों सूबे "हिन्दू-राज्य" के अन्तर्गत रहे हैं। फिर उन्हें हम विदेशियों को क्यों दें? मैं सोचता हूँ कि ईरान का बादशाह प्रसन्नतापूर्वक ईरान तक सीमाबद्ध रहेगा और वह काबुल और कन्धार के हमारे दावे पर आपत्ति नहीं करेगा। पर वह उसे चाहे या न चाहे मैंने तो निश्चित कर लिया है कि उन प्रान्तों को अपने राज्य का एक भाग समझूं और उन पर हमारा शासन हो। अब्दाली का भतीजा पहले ही से हमारे पास आया है और उसने राज्य पर अपने अधिकार का दावा

करते हुए अब्दाली के मुकाबिले में हमसे सहायता की प्रार्थना की है। मेरा विचार उसे सिंध के पार पड़े राज्य के हिस्से का गवर्नर बना देने तथा उसकी रक्षा के लिये कुछ सेना भेज देने का है। इस समय मेरा दक्खिन को लौटना परमावश्यक है। मेरे उत्तराधिकारी देखेंगे कि यह मेरी बड़ी आशा फलित होगी। काबुल और कन्धार में नियमानुसार हम लोगों का शासन प्रारम्भ हो जायेगा।"

१३

हिन्दू-पद-पादशाही

* इराणपासुनि फिरंगनापर्यन्त शत्रुची उथे फळी।
सिंधुपासुनि सेतुबन्धपर्यंत रणांगण भू झाली॥
तीन खंडिच्या पुंडाची ती परन्तु सेना बुडेविली।
सिंधुपासुनी सेतुबन्धपर्यंत समरभू लढवीली॥

वर्षा काल समीप होने के कारण रघुनाथराओ पत्र लिखने के पश्चात शीघ्र ही सेना के साथ दक्षिण को लौट आया। यह बड़े दुर्भाग्य की बात हुई कि उसे ऐसा करना पड़ा और नये जीते हुए सूबों को, जहां सेना भी कम रक्खी गई थी, सहसा छोड़ना पड़ा। सब से भयानक बात तो यह थी कि पठानों का षडयन्त्रकारी नेता नजीबखां, जो पकड़ लिया गया था और जिसे अब्दाली के साथ मिल कर मरहठों को धोखा देने के कारण सारे मरहठा-सरदारों ने मार डालना ही श्रेयस्कर समझा था, अभी तक जीवित था और उसका कोई उचित प्रबन्ध न हो सकता था।

---

*ईरान से लेकर गोआ तक शत्रु फैले हुए थे। सिंध से लेकर रामेश्वर तक समरभूमि बन चुकी थी। विदेशियों की सेना में तीन द्वीपों की सेनायें सम्मिलित थी, पर हमने सिंध से लेकर रामेश्वर तक उन से युद्ध जारी रखा और उनको पराजित कर दिया।

यह बड़ा ही मक्कार और धूर्त मनुष्य था। इसने मल्हरराव से सैकड़ों क्षमा-याचनाएं कीं और कहा—"आप मेरे पिता हैं, मुझे अपने बुरे कर्मों पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। कृपा करके पिता जिस तरह अपने पुत्र की प्राण रक्षा करता है, आप भी मेरी रक्षा कीजिए" इत्यादि। मरहठों के हित के लिये प्राण न्यौछार करने वालों को धर्मपुत्र स्वीकार करने के लिये मल्हरराव सदैव उत्सुक रहते थे। फलस्वरूप उन्होंने नजीबखां की ओर से ऐसी बहस की कि जान लेने को प्रस्तुत होते हुए भी रघुनाथराव को उसे छोड़ देना पड़ा। हम शीघ्र ही देखेंगे कि अपनी प्राण-भिक्षा पाने वाले नजीबखां ने किस प्रकार अपना जीवन ही अपने प्राणदाता के विरुद्ध षडयन्त्र रचने में व्यतीत किया।

राजनैतिक दांव-पेचों के कारण मरहठे अब तक कई अंशों में दिल्ली के बादशाह के नाम पर कार्य कर रहे थे। ऐसा करने से उन्हें रुकावट कम तथा लाभ अधिक होता था। उनकी यह स्थिति अंग्रेजों की उसी स्थिति के समान थी जिसे वे मरहठों की अवनत दशा के पूर्व सन् १८१८ ई० में धारण किये हुए थे! जिस राजनैतिक नीति से १८५७ ई० तक अंगरेज केवल बादशाह के एजेण्ट होने का बहाना करते चले आये—यद्यपि वास्तव में वे ही बादशाह थे, उसी नीति ने मरहठों को भी शीघ्रता न करने पर विवश किया। क्योंकि ऐसा करने से न केवल मुसलमान ही बल्कि अंगरेज, फ्रांसीसी, पठान और हिन्दू राजे सब उनके शत्रु बन जाते। इसका कारण यह था कि इनमें से सबकी दृष्टि मुगल-सिंहासन और उसके उत्तराधिकार की तरफ लग रही थी और हर एक यही चाहता था कि मुगल-सम्राट् तब तक मृत्यु-शय्या पर पड़ा रहे, जब तक राज्य के अन्य दावेदार मिट न जांय और वह आसानी से उसके हाथ पड़ जाये।

परन्तु उत्तर भारत तथा स्वयं बालाजी द्वारा दक्खिन में प्राप्त सफलता ने मरहठों को इतना शक्तिशाली बना दिया कि बालाजी और सदाशिव भाऊ से लेकर साधारण पुरुष तक, सब के मन में यह बात

बैठ गई कि अब इस कार्य को सम्पूर्ण कर देना चाहिये। मरहठों की बड़ी परिषदों में इन आयोजनाओं पर विचार होने लगा। अब उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास हो गया था और वे समझने लग गये थे कि अब भारतवर्ष का मुसलमानी राज्य उन्होंने समाप्त कर दिया है। वे अपने आप को एशिया की एक महान शक्ति समझते थे और अब पूना भारतवर्ष का ही नहीं प्रत्युत समस्त एशिया का राजनैतिक केन्द्र बन गया था। मुगल-राज्य चूर २ होकर अब उनके पैरों पर लोटता था। अतः मरहठों ने उन उन सारी रुकावटों को, जो उन के दिल्लीश्वर बनने में बाधक थी, नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। सदाशिव राओ भाऊ ने अन्य मरहठा सेनापतियों की अपेक्षा इस महत्वपूर्ण कार्य को विशेष गौरव की दृष्टि से देखा और इसे पूर्ण करने या इसी के लिये लड़ते २ प्राण त्याग देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उन लोगों ने मुसलमान-राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। हिन्दुओं ने विजेताओं पर विजय प्राप्त की और भाऊ के नेतृत्व से प्रभावित हो, उन लोगों ने इस चतुरता से उद्योग करने की ठान ली कि अगले कुछ ही वर्षों में सारे भारत को स्वतंत्र करा लेंगे और खुल्लम-खुल्ला उसे हिन्दू-शासन में लायेंगे।

इस विचार से तीन बड़े युद्धों की आयोजना की गई। पञ्जाब और मुल्तान में जाकर नये जीते हुए सूबों में शान्ति-स्थापन तथा नियमित शासन-प्रणाली चलाने का भार दत्ताजी शिन्दे को सौंपा गया और उसे आज्ञा दी गई कि वहां से लौटकर वह काशी और प्रयाग को आवे, जहां रघुनाथराव दूसरी सेना लेकर उससे मिलेगा। वहां से ये दोनों संयुक्त सेनायें बङ्गाल की ओर रवाना हों और समुद्र पर्यन्त सारे देश को मुसलमानों से स्वतन्त्र करादें तथा १७५७ में प्लासी की लड़ाई के विजेता अंगरेजों को भी, जो बङ्गाल के मालिक बनने के इच्छुक हैं, वहां से बिल्कुल हटा दें। दत्ताजी, जनको जी और रघुनाथ-राओ को उत्तर भारत को, सिन्ध और मुल्तान से लेकर समुद्र..तक

स्वाधीन करने की आज्ञा देने के साथ ही बालाजी ने अपने पुत्र विश्वास राओ भाऊ को साथ लेकर सारे दक्षिण की विजय का भार स्वयं अपने हाथ में ले लिया।

तदनुसार अपनी सेनाओं के साथ दत्ताजी ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया। बालाजी और भाऊ ने सबसे पहले निजाम का दक्षिण से अस्तित्व मिटाने का का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने एक बड़ी सेना और तोपखाने के साथ, निजाम पर आक्रमण किया। एक बड़े घमासान युद्ध के बाद सन् १७५० ई० में उद्गिर के स्थान पर बड़ी सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की। मुसलमानी सेना नष्ट कर दी गई। निज़ाम इतना डर गया कि उसने शाही मुहरें भाऊ के हाथों में दे दी और अत्यन्त नम्रतापूर्वक किसी भी शर्त पर सुलह करने की प्रार्थना की। उनमें सन्धि हो गई जिसके अनुसार नागर, बरहानपुर, सलहर, मलहर, अशीरगढ़ और दौलताबाद के किलों और साथ ही नान्देड़, फूलम्बरी, अम्बद और बीजापुर के ज़िलों पर उनका अधिकार हो गया। भाऊराओ भी इस सुलहनामे से सन्तुष्ट हो गया। निज़ाम की अब कोई शक्ति न रही। उत्तरी भारत को छोड़ सारा दक्षिण, इस साल के बीतने से पहले ही, मुसलिम-शासन से मुक्त हो गया। अन्त में नागर और बीजापुर पर मरहठी ध्वजा फहराने लगी। यहां के राजा लोग छोटे विद्रोही शिवाजी के तोराना लेने और वहाँ पर "हिन्दू-विप्लववादियों" का झण्डा खुल्लमखुल्ला गाड़ने पर घृणायुक्त हंसी हंसा करते थे।

इस बड़ी राजनैतिक तथा सैनिक विजय के पश्चात्, उद्गिर विजेताओं की इच्छा हैदरअली पर चढ़ाई करके उसका नाश करने की हुई, क्योंकि उसने मैसूर को घेरा हुआ था और चाहता था कि वहाँ के हिन्दू-राज्य को उलटकर स्वयं बादशाह बन बैठे। वहाँ के हिन्दू-राजा और उसके मन्त्री ने मरहठों के पास एक बड़ी करुणापूर्ण प्रार्थना लिख भेजी कि आप लोग आकर इस साहसी मुसलमान की आकांक्षा

असफल करके हमारी रक्षा करें। सदाशिवराओ भाऊ ने, जो ऐसे ही समय की प्रतीक्षा में था और चाहता था कि हैदरअली को परास्त करके सारे दक्षिण को मुक्त कराये, फौरन ही हैदरअली पर चढ़ाई करने के विचार से रवाना होने का निश्चय कर लिया, पर उसी समय पेशवा के यहाँ उत्तर से बड़ी बुरी खबर आई। भाऊ लिखता है, कि सफलता का प्याला, जिसे मैं मुंह में लगाने ही वाला था, मेरे हाथ से छीन लिया गया।

जो मरहठा फौज दत्ताजी की अध्यक्षता में उत्तर की ओर गई थी, वह १७५८ ई० के अन्त में दिल्ली पहुंची जहाँ से पेशवा की आज्ञानुसार नवीन विजित लाहौर और मुल्तान के सूबों का प्रबन्ध करने के लिए वह आगे बढ़ा। साबाजी शिन्दे और त्रिम्बक बापूजी को अटक तक का प्रबन्ध करने के लिये नियत करने के बाद उसने लाहौर, सरहिन्द तथा अन्य प्रसिद्ध स्थानों में सेनाएं रक्खीं। अब पञ्जाब का काम सम्पूर्ण हो जाने के कारण वह वहाँ से चला आया और अपने सुपुर्द किये गए दूसरे काम के लिये गङ्गा पार करके पटना पहुँचा, जहाँ उसने अंग्रेज़ों के साथ हिसाब चुकाने के पश्चात् हिन्दू-राज्य को समुद्र तट तक फैलाना था।

सिंधिया द्वारा पराजित नजीबखां, जिसने दत्ताजी को बङ्गाल की लड़ाई में सहायता देने तथा विश्वासपूर्वक सेवा करने की झूठी प्रतिज्ञा की थी, धीरे धीरे अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ा रहा था। इस पर क्रोधित होकर पेशवा ने दत्ताजी को लिखा, "तुम कहते हो कि अगर हम नजीबखां को 'बख्शी' बना दें तो वह हमें तीस लाख रुपया देगा, किन्तु मैं आज्ञा देता हूँ कि उसका एक पैसा भी न छूना। नजीबखां आधा अब्दाली है, उसका विश्वास न करो और एक नीच ज़हरीले सांप को न पालो।" पर दत्ताजी ने पेशवा की इस आज्ञा की अवहेलना करके बड़ी भारी भूल की। वह उसकी छटी मक्कारी पर ऐसा

विमोहित हो गया कि उसने नजीबखां को, गङ्गा पार करने के लिये नावों का पुल बनाने की प्रतिज्ञा पर पूर्ण विश्वास कर लिया। बंगाल पर हमला करने में एक ओर मरहठों को देर होती गई, दूसरी ओर नजीबखां को उनके विरुद्ध मुसलमानों का गुट तैयार करने की विशेष सुविधा मिलती गई। इस कार्य में उसे इतनी सफलता प्राप्त हुई कि उसने दिल्ली के बादशाह की हस्ताक्षरयुक्त एक चिट्ठी अब्दाली के पास भेज दी जिसमें उससे एक बार फिर भारत पर आक्रमण करने की प्रार्थना की गई। इस उत्साह भरी प्रार्थना ने धर्म-हठी पठानों को धर्म और अल्लाह के नाम पर जगा दिया। क्या अब्दाली हिन्दुस्तान को विधर्मियों और मूर्ति-पूजकों के पंजे से छुड़ा कर मुसलमानी बादशाहत को बचा कर धर्म का रक्षक नहीं हो जायगा? उधर अब्दाली भी अपने लड़के की हार से लज्जित हुआ पड़ा था, क्योंकि मरहठों ने हिन्दुस्तान का ताज उसके हाथ से छीन लिया था। उन्होंने उसे मुलतान और पञ्जाब से निकाल ही नहीं दिया था वे तो काबुल और कन्धार पर भी "हिन्दुस्तान के राज्य का भाग होने" का दावा करने लगे थे। और इसका बदला वह कुछ भी न ले सका था। अब वह फिर भारत पर आक्रमण करने, इस राज्य को अधिकृत करने तथा मरहठों की हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने की महत्वाकांक्षा को, जो सामान्यतः सम्पूर्ण हो चुकी थी, नाश करने को उद्यत हो गया। उसने इस गुट का नेता बनने का वचन दे दिया और एक बड़ी सेना के साथ सिन्ध पार करके लाहौर ले लिया।

अब्दाली के हमले का समाचार ज्यों ही दिल्ली पहुंचा, नजीबखां ने नक़ाब उतार दी और खुल्लमखुल्ला अब्दाली का अनुयायी बन गया। अब दत्ताजी को पेशवा की आज्ञा की अवहेलना करने की अपनी भूल मालूम हुई और उसने यह समझ लिया कि नजीब और शुजा ने पूरी तरह धोखा देकर उसे दुश्मनों के बीच बेतरह फंसा दिया है। शुजा एक तरफ़ था और दूसरी ओर नजीब, रुहेले तथा पठान थे। पीछे से

अब्दाली बड़ी भारी सेनाओं के साथ बढ़ा आ रहा था। अटक और लाहौर में पड़ी हुई मरहठों की छोटी २ सेनाओं को इस सुविशाल फौज के मुकाबले में परास्त होना पड़ा। मरहठों के अतिरिक्त हिन्दुओं की दूसरी एकमात्र शक्ति, जिसने बड़ी वीरता से उत्तर-भारत में मुसलमानों का सामना किया, उन सिखों की थी जो अभी २ विकसित हो रहे थे। इन बहादुर शूरवीरों ने शक्तिभर उन्हें रोकने तथा उनको नष्ट करने का प्रयत्न किया। पर अभी तक ये लोग सुसंगठित नहीं थे, अतः वे अपने सूबे को भी स्वतन्त्र न करा सके। वह समय अभी आने वाला था। मार्ग में उसका किसी ने विशेषरूप से मुक़ाबला न किया। इस प्रकार वह अविरुद्ध गति से शीघ्र ही अपनी सेना सहित सरहिन्द पहुँच आया। राजपूताने तथा अन्य स्थानों के बहुत से राजे और राजकुमार अब्दाली से सहानुभूति रखते थे—उसी अब्दाली के साथ जिसने कि हिन्दुओं के पवित्र स्थान मथुरा का नाश किया था और जो हिन्दुओं का कट्टर वैरी था। केवल एक दत्ताजी की सेना थी जो अब्दाली के "दिल्लीसम्राट्" बनने के मार्ग में बाधक थी। दत्ताजी ने होल्कर को शीघ्र सहायता के लिये आने को लिखा, पर नजीब के उस धर्मपिता, सेनापति होल्कर ने अपने को छोटे २ सरदारों के साथ लड़ने में व्यस्त रखना ही उचित समझा। इस प्रकार अपार शत्रु-सेना में फंसी हुई मरहठा फौज को अपनी जान बचाने का केवल एक मार्ग था कि वह दिल्ली छोड़ कर हट जाय। प्रत्येक अनुभवी और शूरवीर पुरुष ने दत्ताजी पर ज़ोर दिया कि होल्कर के आने तक यहां से हट चलिये। उसके वीर भतीजे जनको जी राओ ने भी यही प्रार्थना की, पर दत्ताजी ने किसी की एक न मानी। जब वह अनुभव करने लगा कि मेरे भोलेपन के कारण ही इस सेना की यह दुर्गति हुई तो वह चिन्ता-सागर में डूब गया। उसने हिन्दुओं के कट्टर दुश्मन नजीब की जान बचाई थी और उस पर विश्वास किया था। पर अब उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब इस ओर अधिक भीरुता न दिखायेगा। इसलिये जो भी उससे पीछे हटने को कहता, वह

उसे केवल एक ही उत्तर देता था कि—"जो चाहें हट जांय। मैं किसी को विवश नहीं करता, पर मैं अपनी जगह से नहीं हिल सकता। हट कर मैं नाना साहब और भाऊ को कौन-सा मुँह दिखलाऊँगा ? मैं लड़ाई में अब्दाली का सामना करूँगा और यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो या तो उसे मिटा दूँगा, या लड़ते हुए अपने प्राण दे दूँगा।"

इसी बीच में, ग़ाज़ीउद्दीन को पता लग गया कि बादशाह पठानों के षड्यन्त्र में शामिल है और इस प्रकार मुझे मार कर मेरा पद छीनना चाहता है। अतएव उसको पृथक् करके मार डाला और दूसरे मनुष्य को गद्दी पर बिठा कर मरहठी सेना से जा मिला।

दत्ताजी ने अपनी प्रतिज्ञानुसार ही कुरुक्षेत्र में अब्दाली का सामना किया। उसकी व्यक्तिगत वीरता के कारण मरहठे सिपाही इतने उत्तेजित हो उठे कि अब्दाली को विवश होकर पीछे हटना पड़ा और उसे विश्वास हो गया कि वह अकेला सिंधिया का सामना करने में असमर्थ है। अतएव उसने यमुना पार करने का उद्योग किया, जिसमें सफलता प्राप्त करने के पश्चात् शुक्रताल पर नजीबखां की सेना से जा मिला। शुजा भी अहमदखां, बङ्गश और कुतबशाह के साथ उनसे वहां जा मिला मुसलमानों का गुट इस बार इतना दृढ़ हो गया जितना इससे पहले कभी नहीं हुआ था। अब यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि इस ज्वार का रोकना अकेले दत्ताजी के लिये असम्भव है। इसलिये उसके सलाहकारों ने एक बार फिर पीछे हटने के लिये कहा। पर उस वीर ने पहले ही की तरह दृढ़ उत्तर दिया "जो चाहें चले जांय, दत्ताजी अवश्य क्षत्रिय-धर्म का पालन करेगा"। इस वीर सेनापति के मुख से निकले हुए ये शब्द निरर्थक न गये, प्रत्युत इनका बड़ा प्रभाव पड़ा और किसी ने उसका साथ न छोड़ा। १० जनवरी सन १७६० ई० को मरहठा सेना यमुना के घाट के लिये रवाना हुई, ताकि वह अब्दाली को, जो यमुना पार करने के उद्योग में था, पीछे हटाये। लड़ाई प्रारम्भ हुई और क्रमशः बायाजी,

मालोजी तथा अन्याय मरहठे-सेनापति वीरता के साथ अपार शत्रु सेना का सामना करते हुए शहीद हो गये। दुष्मन मिल गये और एक दूसरे का साथ देने लगे। संयोगवश मरहठों की ध्वजा रुहेला और पठान सेना के बीच में घिर गई, जिसे बचाने के लिये मरहठे आगे बढ़े और घमासान युद्ध होने लगा। दत्ताजी और जनकोजी झण्डे को खतरे में देखकर आपे से बाहर हो गये। दोनों ही टूट पड़े और लगे शूरवीरता दिखाने। एकाएक बहादुर जनकोजी को गोली लगी और वह घायल होकर घोड़े से गिर पड़ा। दत्ताजी ने इसे देखा, पर किसी रक्षित जगह पर जाकर लड़ने के बजाय सीधे आगे बढ़ा। जो शत्रु सामने आया मारा गया. और अपने अनुयायियों के साथ दत्ताजी आगे बढ़ता ही गया, और शत्रु सेना में उलझ गया! आखिर होनी होकर रही। दत्ताजी को भी एक गोली लगी, जिससे घायल होकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा।

नजीबखां के धर्मगुरू और पठान षड्यन्त्र के एक उत्साही कार्यकर्त्ता कुतुबशाह ने मरहठा-सेनापति को गिरते देखा और वहां जाकर इस प्रकार व्यङ्गपूर्ण शब्दों में पूछा "पटेल, क्या हम लोगों से फिर लड़ोगे ?" मरते हुये जेनरल ने निर्भीक उत्तर दिया, "हाँ, अगर बचा तो मैं फिर लड़ूंगा।" इन शब्दों का उस वीर के मुख से निकलना था कि उस नीच और कायर का क्रोध भड़क उठा। उसने घायल योद्धा को पैर की ठोकर मारी और तलवार खींच कर बड़े गर्व के साथ विजयरूप में उसका सिर काट कर ले गया।

इस प्रकार दत्ताजी का अन्त हुआ। संसार-भर में आज तक इस मरहठा वीर की तरह किसी भी सिपाही ने ऐसी सचाई, ईमानदारी के साथ अपनी राष्ट्रीय पताका को न बचाया होगा और न ही उसकी रक्षा में ऐसी वीरता-पूर्वक अपना बलिदान दिया होगा। इस वीर की मृत्यु और मरते हुए इस योद्धा के प्रति किये गये कायरतापूर्ण अपमान का समाचार महाराष्ट्र में पहुँचा। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि धधक

उठी और सारे मनुष्यों ने एक स्वर से बदला लेने की आवाज़ उठायी।

बालाजी और भाऊ ने अभी उसी सप्ताह उद्गिर के स्थान पर शानदार विजय प्राप्त की थी और चाहते थे कि हैदरअली को कुचल कर दक्खिन स्वतन्त्र करने का काम सम्पूर्ण कर दें। ठीक उसी समय दत्ताजी की पराजय और उनका मृत्यु-समाचार उनको मिला। उन लोगों ने समयोचित कार्य करने की तैयारी में एक क्षण भी देर नहीं की। यद्यपि उसी सप्ताह उन्होंने दक्षिण में एक बड़ा युद्ध किया था, तो भी एक दिन भी विश्राम न लेकर, अपने सेनापतियों और मन्त्रियों को पटदर में इकट्ठे होने की आज्ञा दी और इस गम्भीर प्रश्न पर भली-भाँति विचार करके अब्दाली का सामना करने और उसके मालवा पहुँचने से पहले ही उससे लड़ने के लिये एक शक्तिशाली सेना भेजने का निश्चय किया। महाराष्ट्र-नवयुवक सेना में भरती हो गये। शमशेर बहादुर. विट्ठल शिवदेव, मानाजी धैरडे, अन्ताजी मनकेश्वर, मने, निम्बालकर तथा बहुत से अन्याय पुराने योद्धा और सेनापतियों ने फिर अपनी-अपनी बागडोर सम्भाली. उद्गिर-विजेता भाऊ सेनापति बनाया गया और बालाजी के ज्येष्ठ पुत्र नवयुवक राजकुमार विश्वासराव भी भाऊ के साथ गये। यह राजकुमार अभी उद्गिर में ख्याति पा चुका था और अपनी जाति का आशा-प्रदीप था। उस समय का विख्यात इब्राहीमखां गार्दी, तोप-खाने का अध्यक्ष बनाया गया। दामाजी गायकवाड़ और सन्तोजी बाघ तथा अन्यान्य सेनापति क्रमशः आगे मिलते गये। कई उत्तर भारतीय राजपूत राजाओं के यहां भी दूत और पत्र भेजे गये कि वे हिन्दुत्व के विरोधी तथा मथुरा, गोकुल नष्ट करने वाले विधर्मियों के साथ युद्ध में उनकी सहायता करें। विन्ध्याद्री और नर्मदा नदियों को पार करके मरहठा सेना चम्बल तक जा पहुँची। मरहठों की इस विशाल सेना और शक्ति को देखकर समस्त उत्तर भारत भयभीत और स्तम्भित हो गया। शत्रु भाव रखने वाले सब राव, राने, नवाब और खां-साहबान डर

गये; किसी को मरहठों की ओर उंगली उठाने का भी साहस न हुआ। शीघ्र ही जनकोजी शिन्धे भी अपनी सेना के साथ भाऊ से आ मिला। सारी महाराष्ट्र-सेना ने उस नौजवान और सुन्दर शूरवीर राजकुमार का बड़े उत्साह और प्रेम से स्वागत किया और 'बड़ान' के युद्ध में वीरगति प्राप्त उसके चचा दत्ताजी की पुण्यस्मृति की प्रतिष्ठा उसी के प्रति प्रदर्शित की। भाऊ ने उस शूरवीर राजकुमार के उपलक्ष में, जिसने केवल १७-१८ वर्ष की अवस्था में ही कई लड़ाइयों में विजय प्राप्त की थी, और अपनी सेना तथा धर्म-रक्षा के लिये कितनी ही भयानक चोटें खाई थीं, एक बृहत सभा की, और उसको सर्वसधारण के सामने बहुत से बहुमूल्य उपहार तथा वस्त्रादि भेंट किये। जिस समय वीर विश्वासराओ, जो बालाजी की अनुपस्थिति में महाराष्ट्र जाति का अतिप्रिय नेता था, जनकोजी से मिलने के लिये आगे बढ़ा, तब उस विशाल जातीय सभा में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति का हृदय तरंगित हो गया। ये दोनों ही नवयुवक एक से एक सुन्दर, बहादुर और अपनी जाति वालों के आदर्श और अभिलाषा को पूर्ण करने वाले तथा हिन्दू-जाति की उठती हुई आशा की सजीव मूर्ति थे।

नजीबखां को धर्मपुत्र बनाने और दत्ताजी की सहायता के लिये आने में असावधानी करके भयंकर भूल करने वाले मल्हरराव होल्कर भी अपने किये का फल भुगतकर यानी दत्ताजी की पराजय के पश्चात स्वयं अब्दाली से पराजित होकर भाऊ से आ मिले। अब भाऊ की इच्छा यमुना पार करके अब्दाली को नदी-तट पर पहुँचने से पहले ही हराने की हुई। उसने गोविन्दपन्त बुन्देला को आज्ञा दी कि तुम सुअवसर पाते ही अब्दाली की फ़ौज के पिछले भाग पर आक्रमण करो और उसकी रसद पहुँचनी बन्द कर दो। पर नदी में बाढ़ आई हुई थी और इतनी शत्रु सेना उसके दूसरी ओर पड़ी थी, इसलिये उसका पार करना अत्यन्त दुष्कर था; इसलिये भाऊ ने दिल्ली जाकर उसे अब्दाली के पंजे से छुड़ाने का निश्चय किया। उत्तर भारत के समस्त राजाओं में केवल

जाट ही मरहठों की सहायता के लिये आये। भाऊ ने स्वयं आगे बढ़ कर बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उनका स्वागत किया और दोनों ने पवित्र यमुना-जल स्पर्श करके अन्त तक शत्रु से युद्ध करने की शपथ खाई।

अब सब की आँखें दिल्ली की ओर फिरीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ऐतिहासिक राजधानी दिल्ली को अधीन करके का महत्व अनुभव करने लगे। भाऊ ने सिन्धिया, होल्कर और बलवन्तराव मेहेण्डाले की सेनाओं को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पठानों ने, जो इस पर अधिकार जमाये बैठे थे, बड़े उत्साह के साथ सामना किया, पर मरहठों के साथ देर तक लड़ने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने अन्त में शहर मरहठों के हाथ सुपुर्द कर दिया। शहर विजय करके मरहठा-सेना ने क़िले पर आक्रमण किया। मुसलमानों ने क़िले की रक्षा के लिए बड़ी वीरता दिखलाई, पर मरहठों के सामने एक भी न चली और उनकी भयङ्कर शक्तिशाली तोपों ने मुसलमानों के क़िले पर उनका अधिकार रखना असम्भव कर दिया। मुसलमानी सेना ने हार मान ली। राजधानी और क़िला हाथ आ जाने का समाचार सुनकर, हिन्दू-आन्दोलन के पक्षपाती सभी मनुष्यों ने बड़ी खुशी मनाई।

मरहठी-सेना ने बड़ी धूमधाम से दिल्ली में प्रवेश किया और भाऊ ने मरहठी-ध्वजा पाण्डवों की राजधानी में गाड़ दी। पृथ्वीराज के बाद हिन्दू या हरिभक्त सेना के लिए यह पहला ही अवसर था जब वह एक स्वतन्त्र झण्डे के तले इस उत्सव के साथ दिल्ली में प्रविष्ट हुई। आखिरकार पठानों, रुहेलों, मुगलों, तुर्कों, शेखों और सैयदों के अथाह प्रयत्न करने पर भी मुसलमानी हलाली झण्डा हिन्दुस्तान की राजधानी पर स्थिर न रह सका और उसके स्थान पर हिन्दू-पद-पादशाही का झण्डा लहराने लगा। शक्तिशाली मुसलिम फौज के साथ यमुना के दूसरे क़िनारे पर पड़ा हुआ अब्दाली कुछ भी न कर सका।

सदाशिवराव अनुभव करने लगा कि चाहे एक ही दिन के लिये

क्यों न हो, हिन्दू-पद-पादशाही का स्वप्न मेरी आखों के सामने पूर्ण हो ही गया। यदि कोई जाति अपनी वीरता से एक दिन के लिये भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सके, तो वह दिन सचमुच उसकी नसों में जीवन का रक्त प्रवाहित होने का ज्वलन्त प्रमाण है। ऐसा भाग्यशाली दिन, अपनी अल्प आयु में भी, अपनी विकसित शोभा में शताब्दियों की सफलताओं, सत्कर्मों, प्रसन्नताओं और आपत्तिओं तथा कठिनाइयों को आँखों के सामने ला देता है। एक उसी दिन ने भली-भाँति साबित कर दिया कि सात सौ वर्ष के मुसलमानों के अन्याय हिन्दुओं की आत्माओं या उनके फिर युवावस्था प्राप्त करने के विचार को कुचल न सके। उन्होंने केवल अपने आपको उनके बराबर ही साबित नहीं किया, प्रत्युत उन पर विजय भी प्राप्त की।"

भाऊ यदि चाहता तो विश्वासराव को सारे भारतवर्ष का महाराजाधिराज बना देता और इस प्रकार उसने हिन्दू-पद-पादशाही का आरम्भ कर दिया होता। लेकिन इस बात में शीघ्रता न करके उसने राजनैतिक बुद्धिमत्ता का पर्याप्त परिचय दिया। उसने सोचा कि मरहठों के डर से हिचकने वाले मुसलमान ही नहीं, बल्कि ऐसा करने से उत्तर-भारत के सारे हिन्दू-राजे भी शत्रु बन जायंगे; तो भी उसने सब लोगों की परीक्षा करने और इस अद्वितीय शुभ अवसर का दुश्मन और दोस्त दोनों पर समयोचित प्रभाव डालने का निश्चय कर लिया। इसलिये इस महान् कार्य के उपलक्ष में उसकी आज्ञा से एक शाही दरबार किया गया जिसमें विश्वासराव ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उसमें महाराष्ट्र के प्रत्येक भाग के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इतना ही नहीं, बल्कि शूर-वीरता, वैभव, राजनीति, कुशलता और विद्वत्ता सब वहां सुशोभित थीं। दरबार आरम्भ हुआ। अश्वारोही सेना और तोपखाने, सहस्रों घोड़े और हाथी तथा कई हज़ार सिपाही और योद्धा जो हिन्दू-झण्डे को उत्तर में गोदावरी से सिन्ध तक और दक्षिण में समुद्र-तट तक ले गये थे, सहस्र नरसिंगों, तुरहियों, बन्दूकों और फ़ौजी ढोलों के साथ विजय की

सलामी देने को टूट पड़े। तब सेनापति के पीछे सेनापति, राजनीतिज्ञ, सरदार, गवर्नर और वाइसराय नम्रतापूर्वक आगे बढ़े और अपने प्रिय राजकुमार का हार्दिक अभिनन्दन किया, ठीक उसी प्रकार जैसा कि अपनी जाति का सभापतित्व ग्रहण करने वाले बादशाह किया करते हैं, तथा उसका विजेता के रूप में आदर किया। उस अद्भुत दृश्य के देखने वालों ने उसका अर्थ समझ लिया। इसमें भाग लेने वाले प्रत्येक मनुष्य ने अनुमान किया कि यह उस बड़े राज्य-तिलक दरबार का पूर्व प्रयोग (रिहर्सल) है, जिसमें, अगर ईश्वर ने चाहा तो इस नवयुवक राजकुमार को सारे भारतवर्ष के महाराजाधिराज-पद से विभूषित किया जायगा।

१४

पानीपत

मुसलमान भी दिल्ली की इस महान् कार्यवाही का अर्थ समझने से वञ्चित न रहे। यह समाचार अग्नि की तरह चारों ओर फैल गया कि मरहठों ने अपने राजकुमार को समस्त भारतवर्ष का महाराजाधिराज अभिषिक्त किया है। नजीबखां और दूसरे मुसलमान-नेताओं ने इन कार्यों की ओर इशारा करके अपने डर को न्यायोचित सिद्ध किया और मुसलमानों को इस गम्भीर स्थिति का बोध कराने का उद्योग किया। उन्होंने जोरदार शब्दों में घोषणा की कि हिन्दू-पद-पादशाही ही नहीं, "ब्राह्मण-पद-पादशाही" भी स्थापित हो गई है, इसलिए प्रत्येक मुसलमान, जो अपने नबी का सच्चा भक्त है काफिरों की सेना से लड़ने के लिए रणक्षेत्र में उतर आये।

परन्तु नजीबखां और अन्यान्य मौलवियों की तरङ्गभरी, जोश में लाने वाली, इसलाम के नाम पर की गई वक्तृताओं की अपेक्षा, शुजा और दूसरे मुसलमानों के स्वार्थ-भाव का पलड़ा अधिक भारी रहा।

रुहेले जैसे कट्टर हठधर्मियों की आँखें भी खुलने लगीं । अब्दाली के होते हुए भी जो सफलता मरहठों ने प्राप्त की थी, उससे प्रभावित हो, लोगों को विश्वास हो गया कि अब्दाली मरहठों को रोकने में असमर्थ है। शुजा ने भाऊ को पत्र लिखा कि अब्दाली से मिल जाने पर वस्तुतः मैंने भूल की थी जिसका स्मरण करके मुझे बड़ा दुख हो रहा है। भाऊ ने भी उसे मिला लेने में ही बुद्धिमत्ता समझी और अपने राजदूत द्वारा यह कहला भेजा कि मरहठे मुग़ल-राज्य को उलटना नहीं चाहते। अगर शुजा अब्दाली का साथ छोड़ दे तो हम उसी को प्रसन्नतापूर्वक शाहआलम का, जिसे कि वे शाहन्शाह मानते हैं, वज़ीर बना देंगे। रुहेलों ने भी आगा-पीछा सोचने और अब्दाली का साथ छोड़ने की बातचीत आरम्भ कर दी। यह देखकर कि किस प्रकार सारी परिस्थिति उसके प्रतिकूल बन रही है, अब्दाली ने भी मरहठों के साथ सन्धि की बातचीत करने का निश्चय किया और राजदूत को शर्तों पर विचार करने करने के लिए भेज दिया। लेकिन उसकी शर्तों के मुताबिक़ पञ्जाब छोड़ने के लिए भाऊ तैयार न था, साथ ही वह बहसों के धोखे में पड़ कर इस सुअवसर को, जिससे वह बहुत कुछ प्राप्त कर सकता था, हाथ से न जाने देना चाहता था, इसलिये ऊपरी चित्त से सुलह की बात-चीत कुछ अंशों में जारी होते हुए भी उसने उत्तर की ओर बढ़ कर अब्दाली को कुंजपुर में एक बड़े महत्वपूर्ण स्थान से, हटा देने का विचार किया। एक बड़ी सेना, जिसका सेनापति समदखां था, उस स्थान की रक्षा कर रही थीं। कुतुबशाह भी वहीं था। ज्यों ही उन्हें मालूम हुआ कि मरहठे आक्रमण करना चाहते हैं, वे खूब तैयारी करने लगे। अब्दाली ने भी समदखां और कुतुबशाह को यमुना के दूसरे पार से आज्ञा भेजी कि जैसे भी हो क़िले की रक्षा करो, और उन्हें यह विश्वास भी दिलाया कि मैंने सहायता के लिए और सेना भी रवाना कर दी है।

दिल्ली छोड़ने पर भाऊ को उचित जान पड़ा कि अपना कोष पूर्ण कर ले। उसे आशा थी कि गोविन्दपन्त बुन्देला, अब्दाली की रसद पहुंचनी बन्द कर देगा और उसके पिछले भाग पर आक्रमण करेगा, तथा शुजा और रुहेलों के सूबों पर चढ़ाई करके उन्हें परेशान करता रहेगा, पर गोविन्दपन्त अपने सभी कामों को पूर्ण करने में असफल रहा। बुन्देले से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता न पाने पर भाऊ कोषपूर्ति का और ही उपाय सोचने लगा, क्योंकि कोष ही उसकी लड़ाई का मूल था। उसका ध्यान शाही सिंहासन के ऊपर की चाँदी की छत की ओर आकर्षित कराया गया जिसकी कीमत क़रीब १२ लाख रुपये से अधिक थी। उसने उसे तोड़ कर टकसाल में भेज देने की आज्ञा दी। उस समय गुलामी और मिथ्या-विश्वास ने फिजूल शोर मचाना प्रारम्भ किया। कहा जाता है कि जाट भी यह सोच कर रुष्ट हो गए कि शक्तिशाली मुग़लों के शाही तख्त को, जिन्हें कि भगवान् ने हिन्दुस्तान का महाराज बनने के लिए उत्पन्न किया है, इस प्रकार अपमानित करना देव-स्वत्व-अपहरण है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो जाटों को सोचना चाहिए था कि अगर प्रत्येक सफल कार्य, जिसमें सफल-अपहरण भी सम्मिलित है, ईश्वर की इच्छानुसार ही होता है और इसके कारण ही वह पवित्र और ईश्वरीय बन जाता है, तो शिवाजी द्वारा स्थापित रायगढ़ भी एक सफल कार्य था उसे भी ईश्वरीय समझा जाना चाहिये था। रायगढ़ की स्थापना का उद्देश्य कोई धार्मिक अन्याय या अत्याचार करना न था, बल्कि उसका अस्तित्व तो जातीय स्वतन्त्र जीवन बिताने तथा आत्मरक्षा और स्वतन्त्रता की पवित्र भावना से परिपूर्ण था। लेकिन जब औरङ्गज़ेब अग्नि और तलवार तथा धर्मान्धता और अशांति की सारी सेनाओं के साथ दक्षिण में हिन्दुओं के जातीय जीवन को कुचलने और इस प्रकार नवीन हिन्दू-राज्य को मिटा देने के लिये आया, तो क्या उसने शिवाजी के सिंहासन

को टुकड़े टुकड़े करने में आनाकानो की थी? फिर वे क्यों मुगल सिंहासन के लिये इतने चिंतित हो रहे थे जो समस्त हिन्दुओं के लिये जिनमें जाट भी सम्मिलित हैं-केवल एक शैतानी शक्ति का चिन्ह था जो सहस्रों हिन्दू-शहीदों के खून से लिप्त तथा उनके मन्दिरों और घरों को नष्ट करके बनाया गया था और जिसका अस्तित्व ही हिन्दुओं की जातीय और राजनैतिक मृत्यु थी। औरङ्गज़ेब ने हिन्दुत्व के शाही तख्त को टुकड़े टुकड़े करने के लिये अपना फौलादी पंजा उठाया था, उस समय न्यायशील देवता तथा हिन्दुस्थान के रक्षक स्वर्गीय दूत ने उसके हाथ से हथौड़ा छीन लिया—और देखो, आज उसी का शाही तख्त इसके नीचे टुकड़े टुकड़े होकर पड़ा है।

सिपाहियों की तनख्वाह चुकाने के बाद, भाऊ कुंजपुर के लिये आगे बढ़ा। शिन्दे, होल्कर और विट्ठल शिवदेव सेनापति थे। पठान बड़ी वीरता से लड़े। क़िला और शहर अपनी मजबूती के लिये प्रसिद्ध थे, लेकिन अच्छी तोपों तथा सिंधिया और अन्यान्य सेनापतियों द्वारा संचालित महाराष्ट्र-फौज का मुसलमान देर तक सामना न कर सके। मुसलमानी सेना के बीच कुछ शिगाफ़ होते ही दामाजी गाइकवाड़ ने 'हर हर' जयघोष के बीच अपनी सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और उसकी सेना अन्धा-धुन्ध घोड़े दौड़ाती हुई उसके बीच कूद पड़ी। भीषण युद्ध हुआ जिसमें खून की नदियां बहीं। सहस्रों पठान मारे गये। क़िला ले लिया गया। मुसलमानों के खेमे लूट लिये गये और उनके सैकड़ों आदमी पकड़ लिये गये। उनका सेनापति समदखां भी मरहठों के हाथों में गिरफ्तार हो गया। वह एक बार पहले भी पिछले युद्ध में रघुनाथराव द्वारा बन्दी किया गया था, पर मरहठों ने रुपया लेकर उसे छोड़ दिया था। छूटने के पश्चात् उसने जान की परवाह न करके मरहठों का विरोध किया और एक बार फिर उनके हाथ में पड़ गया।

युद्ध समाप्ति पर भाऊ खड़ा २ होल्कर और सिंधिया को कुछ

आज्ञाएं दे रहा था, और हिन्दू-सेना के बलकी प्रशंसा कर रहा था जिसने उस काम को तीन दिन में पूरा कर लिया था, जिसकी पूर्ति में शत्रुओं को अगर उतने महीने नहीं, तो कम से कम उतने सप्ताह ज़रूर लगने की आशा थी। ठीक उसी समय हाथी पर सवार दो युद्ध के प्रसिद्ध कैदी लाये गये। उनमें से एक था, पठानों की कुंजपुर फौज का सेनापति समद खां और दूसरा था, नजीब का शिक्षक, पठान षड्यन्त्र-कारियों का नेता तथा मरते हुए वीर दत्ताजी को लात मारने वाला और नीचतापूर्वक 'काफ़िर' इत्यादि कह कर उसका अपमान करने वाला कुतुबशाह।

कुतुबशाह को देखते ही मरहठा-खून खौलने लगा। दत्ताजी का बदला लेने का ख्याल उसकी आँखों के सामने आया।

"क्या तुमने ही मरते हुये हमारे दत्ताजी को काफ़िर कहते हुए लात मारी थी?"

कुतुब शाह ने जवाब दिया—"हां, हमारे धर्म में मूर्तिपूजक को मारना और उसके साथ काफिर की तरह घृणा करना पुण्य कार्य माना गया है।"

"तब कुत्ते की मौत मरो"—भाऊ ने गर्ज कर कहा।

सिपाही उस अपराधी को थोड़ी दूर एक तरफ़ ले गये और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। दत्ताजी का बदला पूर्ण रूप से ले लिया गया और समद खां की भी वही गति हुई।

नजीबखां का परिवार भी उसके दामाद और अन्य लोगों के साथ मरहठों के हाथ पड़ गया। लेकिन उन लोगों के साथ कुतुबशाह जैसी सख्ती नहीं बरती गई। सच तो यह है कि युद्ध करते हुए जो लोग बन्दी किये गये थे, वे यदि मार भी डाले जाते तो भी अब्दाली को किसी प्रकार भी उनके मनुष्यत्व पर टीका करने का कोई अधिकार न था क्योंकि वह और उसके सहायक मुस्लिम-बादशाह ऐसे निष्ठुर

महापापों के स्वयं अपराधी थे। उन्होंने पंजाब, बदान तथा अन्य स्थानों में रण-भूमि में हारे हुये मरहठों की नाकें काट ली थीं और उनके सिरों को काट कर शाही खैमे के सामने ढेर लगा दिये थे और उसी भयंकर चिता को उन्होंने जय-स्तम्भ समझा था। मरहठे भी इन पाशविक कार्यों का अनुकरण कर सकते थे, पर इन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। और न ही इन लोगों ने मसजिदों को ढाकर कुरान को जला कर और पवित्र स्थानों पर लूट मचा कर अपने को प्रसिद्ध किया। अब्दाली, औरङ्गजेब, नादिर और मुसलमानों ने सिद्धान्ततः ऐसे दुराचार किये थे!

कुंजपुर में हारने के कारण अब्दाली की प्रतिष्ठा और भी कम होने लगी। मरहठे उसकी सेना को, जो दस हजार के लगभग थी, बुरी तरह से पराजित करके उसकी आँखों के सामने ही विजयदशमी या विजय का दिन बड़ी धूमधाम से मना रहे थे। चूंकि वह एक योग्य सेनापति था, उसने फौरन सोच लिया कि यदि कोई बड़ा खतरा उठा कर मैं कोई साहसिक कार्य करके न दिखा दूंगा तो मेरा काम बिगड़ जायगा। उसी समय उसने किसी प्रकार भी यमुना पार करके बागपट के स्थान पर पहुँच कर कुंजपुर स्थित मरहठी फौज को उनके आधारभूत दिल्ली से काटने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

अपने इस कार्य में वह सफल हुआ और एक लाख मनुष्यों की सेना, मरहठों और उनकी देहली लाइन के बीच खड़ी कर दी। इस समय उसे एक और मौका हाथ आ गया जो पीछे चल कर उसके लिये अपनी सैनिक शक्तियों से अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। वह यह था कि यद्यपि मरहठों का सम्बन्ध अपनी आधार फौज से कट गया था तो भी अब्दाली का सम्बन्ध शुजा रुहेलों के देश से नहीं छूटा था। पर इसके कारण उसे इतना लाभ नहीं पहुँचा जितना कि गोविन्दपन्त के भाऊ की, रसद बन्द करने वाली, आज्ञा न पालन कर सकने के कारण पहुँचा।

अब्दाली ने मरहठों को सामना करने के लिये भलीभाँति सुसज्जित पाया। बागपट पर ज्यों ही उसने यमुना पार की, उसी समय

भाऊ युद्ध करने के लिये विख्यात कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ा और उसने पानीपत में खेमा लगा दिया। मरहठों को पूर्ण विश्वास था कि यदि गोविन्दपन्त और गोपाल गणेश ने अपना कार्य्य अच्छी प्रकार से किया और शत्रुओं की रसद बन्द करके उसके पिछले भाग पर आक्रमण किया तो वे अब्दाली को पीस डालेंगे। पर गोविन्दपन्त उस काम के करने में बुरी तरह असफल रहा। आवश्यक आज्ञा, धमकियां—भाऊ ने सभी का आश्रय लिया, पर गोविन्दपन्त ने इतना भी उद्योग नहीं किया जितना वह कर सकता था। जाटों ने पहले ही मरहठों का साथ छोड़ दिया था और वे एक सुरक्षित दूरस्थ स्थान भरतपुर की राजधानी से युद्ध का तमाशा देख रहे थे। तो भी उनकी यह प्रशंसनीय बात उल्लेखनीय है कि उन्हों ने कभी कभी मरहठों की रसद आदि द्वारा सहायता की थी। लेकिन राजपूतों ने तो उतना भी नहीं किया। उनमें कोई भी मरहठों का मुकाबला करने का साहस नहीं रखता था, और बहुतेरे चाहते थे कि वे नष्ट हो जांय। इन हिन्दू-राजाओं की आत्मघातिनी आशा कहां तक सफल हुई, यह भविष्य का इतिहास बतलायेगा। इस लिए यद्यपि दोनों दल शत्रु के यातायात का रास्ता काटकर उसे भूखों मारने का विकट प्रयत्न करके उस पर आक्रमण करना चाहते थे, तो भी ज्यों ज्यों दिन बीतते गये अब्दाली की अपेक्षा मरहठे कहीं अधिक क्षुधापीड़ित होने लगे।

आखिरकार २२ नवम्बर को जनकोजी सिंधिया ने अपने पड़ाव से चल कर मुसलिम-फौज पर आक्रमण कर दिया। सारे मुहाज़ पर बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। नवयुवक महाराष्ट्र-सेनापति तथा सके पुराने तजुर्बाकार योद्धाओं की अनुपम वीरता के सामने डटे रहने में असमर्थ मुसलिम-सेना शाम को पीछे भागी और मरहठों ने सरगर्मी के साथ उसे हरा कर उसका पड़ाव तक पीछा किया। यदि अन्धेरा न हो गया होता तो उसी दिन मुसलमानों की पूर्ण पराजय हो जाती।

मरहठों ने अपने शूरवीरों का विजय की सलामी के साथ स्वागत किया। अपने सिपाहियों के मस्तिक से पराजय के उत्साह हीन करने वाले बुरे असर को निकालने के लिए अब्दाली ने १५ दिन बाद चुनी हुई सेना को आज्ञा दी कि वह अंधेरा होते ही रवाना हो जाये और मरहठी सेना के मध्य भाग पर रात के समय अन्धेरे में आक्रमण करे। लेकिन आगे बढ़ने पर जब इन लोगों ने बलवन्तराव मेहेन्डले को ५० हज़ार फ़ौज के साथ युद्ध के लिये प्रस्तुत आते देखा, तो इनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पठानों ने फ़ौरन अपनी तोपें मरहठों पर चलानी आरम्भ कर दीं। पर चूंकि मरहठे तोपें नहीं लाये थे, इसलिये उनकी अधिक हानि हुई। शीघ्र ही ऐसा आभास होने लगा कि मरहठे डगमगा जावेंगे। लेकिन उनका सेनापति बिजली की तरह घोड़ा आगे दौड़ा लाया और अपनी सेना को ललकारते हुए उसने कहा कि झण्डे को अपमानित न होने देना। उन्हें चारों ओर से बटोर कर व्यूहबद्ध किया और अपनी तलवार को भयङ्कर रूप से ऊँची उठा कर एक दम आक्रमण करने की आज्ञा दी। मरहठे दौड़ कर शत्रुओं पर टूट पड़े, उनकी तोप को शांत कर दिया और मौत के मुंह में आ गये। सबसे आगे उनका वीर सेनापति बलवन्तराव मेहेण्डले था। घमासान का रण छिड़ पड़ा। एक गोली आ-कर सेनापति को लगी और वह वहीं गिर कर ढेर हो गया। यह देखकर मुसलमान उसका सिर विजय के चिह्न के रूप में काट कर ले जाने के लिये उस पर टूट पड़े, परन्तु निम्बालकर ने उनकी तलवारों और सेना-पति की लाश के बीच में अपने को डाल दिया और गहरी चोट खाने पर भी उसके मृत शरीर को उस समय तक ढाँपे रक्खा, जब कि मरहठों ने आकर उसे शत्रुओं से छुड़ा न लिया। इस समय तक हज़ारों पठान काम आ चुके थे और मुसलमानों ने और डटा रहना कठिन समझा इसलिये पहले तो वे लोग भागने से झिझके, फिर बुरी तरह पराजित होकर पीठ दिखा कर हज़ारों साथियों को मरहठों के सामने रणभूमि में छोड़ कर अपने पड़ाव की ओर भाग गये। मरहठों ने एक बड़ी

विजय प्राप्त की, परन्तु एक योग्य और महान् सेनापति से हाथ धो बैठे। उसकी लाश बड़ी प्रतिष्ठा के साथ छावनी में लाई गई और उसके स्मारक में एक विजयी को सैनिक मान से सम्मानित किया गया। भाऊ को औरों की अपेक्षा उसकी मृत्यु पर अधिक शोक हुआ और स्वयं उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया में सम्मिलित हुआ। उस वीर की धर्मपत्नी ने, जो अपने पति से कम बहादुर न थी, भाऊ के अत्यन्त आग्रह करने पर भी उसके साथ चिता में सती होकर अपने को बलिदान कर देने का दृढ़ निश्चय किया। समस्त सेना अपने वीर शहीद के प्रति अन्तिम अत्यन्त प्रेम भरा सम्मान प्रदर्शित करने को आई। हज़ारों मनुष्य भक्तिपूर्वक चिता को घेर कर प्रसिद्ध शहीद तथा वीर मरहठा कन्या की, जो अग्नि की शिखाओं में अपने प्रिय मृतक के सिर को हिफाज़त से गोद में रक्खे बैठी थी, भक्तिपूर्ण अभ्यर्थना करते हुये खड़े रहे।

इस प्रकार अब्दाली दो लड़ाइयां लड़ा और दोनों में ही उसको मुँह की खानी पड़ी। लेकिन इससे भी मरहठों के भूखों मरने का प्रश्न हल न हो सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि गोविन्दपन्त की निद्रा अब भंग हुई और उसने अब्दाली की रसद पहुँचानी बन्द कर दी थी; तथापि अब बहुत देर हो चुकी थी। और साथ ही वह अधिक दिनों तक इस काम को जारी भी न रख सका क्योंकि अतार्क खाँ ने दस हजार फौज के साथ बनावटी झन्डे के नीचे गोविन्दपन्त पर आक्रमण कर दिया। मरहठों ने होल्कर का झंडा देख कर आगे बढ़ते हुए पठानों को तब तक मित्र ही समझा जब तक कि उन्होंने सच-मुच उनको काटकर गिराना शुरू न कर दिया। आखिरकार गोविन्द-पन्त भी काट डाला गया, और उसने वह जीवन खो दिया, जिसे अगर वह भाऊ की आज्ञानुसार चार महीने पहले खतरे में डालता तो बहुत संभव था कि वह अपनी जाति और अपने आप को भी एक बड़ी विपत्ति से बचा लेता। पठानों ने गोविन्पन्त का शिर काट लिया और

अब्दाली ने बड़ी ही कृपा करके उसे बहुत सी डींगों से भरे हुए पत्र के साथ भाऊ के पास भेज दिया। सैनिक दृष्टी से अब भी अब्दाली को परास्त करने की बहुत सम्भावना थी, क्योंकि इतना चौकस पहरा होते हुये भी मरहठों की विपत्ति का समाचार दक्षिण में जा पहुँचा और बालाजी अनुमानतः ५०,००० मनुष्यों की शक्तिशाली सेना के साथ अपने आदमियों की सहायता के लिये रवाना हो पड़ा। अगर मरहठे एक महीना और डटे रह सकते तो दोनों सेनाओं के बीच अब्दाली पिस जाता। परन्तु फाके का क्या उपाय हो सकता था ? सैकड़ों बोझ ढोने वाले पशु तथा घोड़े प्रतिदिन भूख से मरने लगे। उनके सड़ने की दुर्गन्धि सैनिकों के स्वास्थ्य के लिये फाकों के समान ही भयावह होने लगी। अब केवल एक ही उपाय कुसमय युद्ध प्रारम्भ करने का था। उमंग भरी सेना प्रतिदिन भाऊ के खैमे पर इकट्ठी हो करुणामय प्रार्थना करने लगी कि हमें भूख और दुर्गन्धि से प्राण त्याग करने की अपेक्षा रणभूमि में जाकर मरने की आज्ञा दीजिये। लेकिन क्या भूखों मरने से बचने के लिये अब भी एक और मार्ग न था अर्थात् "बिना-शर्त हिन्दू-महान-कार्य से त्याग-पत्र देना", जिसके लिये कि उनके पूर्वजों की कई पीढ़ियां जीवित रहीं तथा उसी कार्य को करते हुए मरी भी ? तो क्या वे ऐसा करके तथा अब्दाली को शाहंशाह मान कर स्वतन्त्रता से त्याग-पत्र दे दें ? नहीं, किसी प्रकार भी नहीं। कोई मरहठा इसके लिये राय देने को तय्यार न था। आपत्तिग्रसित और क्षुधातुर होते हुए भी उन्होंने भयंकर विषमता का ध्यान न करते हुये इस बुद्धिमानी से शत्रु का सामना करने का निश्चय किया कि चाहे युद्ध में उनके मनोरथ सफल न हों तो भी विपक्ष की सफलता धूल में मिल जाय। इस श्रेणी के मनुष्यों के बीच भाऊ अजेय साहस और बल से कभी भी विचलित न होते हुए खड़ा था। उसने निर्भय होकर प्रतिज्ञा कर ली कि मैं हार कभी न मानूंगा और न कोई ऐसा कार्य्य ही करूंगा जिस से जातीय प्रतिष्ठा पर धब्बा लगे, और विजय प्राप्त करने के लिये

चाहे कैसा भी दुःख क्यों न उठाना पड़े—और विजय भी चाहे प्राप्त न हो—तो भी कम-से-कम हार ऐसी हो जो हमारी आने वाली सन्तति को सर्वदा उत्साह और स्वाभिमान से भरती रहे। यह हार बहुत-सी सफलताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

एक आवश्यक सैनिक सभा निमंत्रित की गई जिसमें यह निश्चय हुआ कि पूर्ण रूप से युद्ध के लिये सन्नद्ध हो दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया जाय और यदि अब्दाली सामना करे तो उस पर आक्रमण किया जाय और उसकी पंक्ति को काटकर उससे युद्ध किया जाय। 'अगर' की शर्त अनावश्यक थी क्योंकि अब्दाली उन्हें कब जाने देने वाला आदमी था।

हज़ारों वीर "हरिभक्तों" की सेना बड़ी 'जरीपताका' या सुनहले गेरुवा झंडे के चारों ओर एकत्रित हो गई। फौरन ही उनका सेना-नायक, नेताओं द्वारा निर्वाचित भविष्य कार्य्य-क्रम की घोषणा करने को उठ खड़ा हुआ। ज्यों ही उन लोगों को शत्रु से युद्ध करने का फैसला बतलाया गया, उस बृहत् शस्त्रधारी जमघट ने उच्च ध्वनि से इसका समर्थन किया। सब कार्य-क्रम समझाया गया। उस महान् नेता ने प्रतिष्ठित जातीय झंडे की ओर संकेत करते हुए, जिसके नीचे सब लोग खड़े थे, अपने मनुष्यों के सामने एक सारगर्भित वक्तृता दी; जिसमें उसने बतलाया कि किस प्रकार मौन वाणी द्वारा वह झण्डा अपना सुविख्यात इतिहास बतला रहा है कि किस प्रकार रामदास ने इसे शिवाजी को हिन्दू-पद-पादशाही के 'स्वधर्म-राज्य' के बृहत कार्य के लिये चेतावनी-स्वरूप दिया था; किस तरह हमारे पूर्वज और अमर शहीदों ने विजय-पर-विजय प्राप्त करके समस्त हिन्दुस्थान को अटक से अराकाट और समुद्र पर्यन्त इसके अधीन सम्मिलित किया; और किस प्रकार हिन्दुत्व के विरोधियों ने जब कभी यह उठा, तो या तो उन्होंने इसके सामने सिर झुकाया या नष्ट हो गये। क्या अब हम इसे शत्रुओं को सौंप दें? झुका दें? या जिस उद्देश का यह परिचायक है, उस महान् काय के लिये लड़ते २ जान दे दें?

एक लाख शूरवीरों ने 'हर हर महादेव' का जय घोष किया और अपनी अपनी तलवार निकालकर जातीय झण्डे, उनके बतलाये हुये कार्य्य तथा अपने सेनापति के प्रति जिसने विजय-पर-विजय प्राप्त करने में उनका पथ प्रदर्शन किया था, भक्ति रखने की प्रतिज्ञा की।

१५ जनवरी की सुबह को सारी मरहठा फौज व्यूबद्ध होकर निकल पड़ी। भाऊ और विश्वासराय से। के मध्य भाग के संचालक बने। जनकोजी उनके दाहिनी ओर खड़े हुए। तथा मल्हरराव होल्कार सेना के आगे हुए। दामाजी गायकवाड़, यशवन्तराव पवार, अंताजी मानकेश्वर, विट्ठल शिवदेव, और शमशेर बहादुर—ये सब बाईं ओर से सेना की रक्षा के लिये नियुक्त किये गये। अपने उत्तम तोपखाने को और इब्राहीम गार्दी की अध्यक्षता में जो मुसलमान होते हुये भी अपने मालिकों का मरते दम तक नमकहलाल रहा, सबसे आगे रखा। इस प्रकार भयङ्कर रीति से व्यूबद्ध महाराष्ट्र-सेना ने अपना शिविर छोड़ा और सहस्रों नरसिंहा, नक्कारों, नफरियों और युद्ध-वाद्यों को बजाते हुए उन्होंने कूच का डंका बजा दिया।

ज्यों ही अब्दाली को मरहठों के आने की सूचना मिली वह भी मुकाबिला करने के लिये निकल खड़ा हुआ। उसकी सेना के मध्य भाग का संचालन उसका वज़ीर शाहनवाजखाँ कर रहा था। उसकी दाईं ओर रुहेले तथा बायें भाग में नज़ीबखाँ और शुजा थे। उसने भी अपनी तोपें सेना के आगे रक्खीं।

शीघ्र ही दोनों सेनाओं में युद्ध आरंभ हो गया। बन्दूकों और तोपों ने अपना भीषण कार्य आरम्भ कर दिया। उन बड़ी सेनाओं के चलने से उठी हुई धूल और तोपों के धुएं के कारण आकाश में अन्धकार छा गया। दिन निकलने के बहुत देर बाद तक सूर्य दिखाई न दिया। जब शत्रुओं ने भलीभांति एक-दूसरे को देखा तो यशवन्तराव पवार और विट्ठल शिवदेव ने पहले पहल आक्रमण किया। घमसान का युद्ध होने लगा। मरहठों ने एक ही झपट में रुहेलों को पीछे हटने पर विवश कर

दिया और उनके ८००० आदमियों को मार डाला। भारी प्रहार को न सह कर यवन सेना का दाहिना भाग लड़खड़ाने लगा और पीछे हटा। मुसलमानों की सेना के मध्य भाग पर भाऊ और नवयुवक वीर विश्वास-राव ने इस ज़ोर से आक्रमण किया कि सेनायें मौत के मुंह में आ पड़ीं। पठान भी घटिये दर्जे के शत्रु न थे। दूसरी ओर भाऊ तथा नवयुवक राजकुमार विश्वासराव जैसे असाधारण पुरुषों द्वारा सञ्चालित महाराष्ट्र-सेना भी सम्भवतः पीछे हटना नहीं जानती थी। एक घण्टे के भयङ्कर युद्ध के बाद भाऊ और विश्वासराव ने स्वयं वज़ीर द्वारा सञ्चालित और लोहे की तरह मज़बूत पठानों के अग्रभाग की पंक्ति को तोड़ दिया। सहस्रों मुसलमान रण में मरकर धराशायी हुए। वज़ीर का लड़का मारा गया और वह स्वयं घोड़े से वञ्चित हो गया। मुसलमानों का मध्य भाग टूटने और छिन्न-भिन्न होने लगा। शत्रुओं के मोर्चे पर मोर्चे को तोड़ते हुये भाऊ और विश्वासराव आगे बढ़े। यह देख कर वज़ीर को बचाने के लिए नजीबखाँ शीघ्रता से आगे बढ़ा। पर उसके पीछे भाऊ की सहायता और उसकी स्थिति मज़बूत करने के लिए वीर जनकोजी भी अपने अनुभवी योद्धाओं के साथ तेज़ी से आ पहुंचा। इतनी भयङ्कर लड़ाई होने लगी जितनी पहले कभी नहीं हुई थी। समस्त सेना में द्वन्द्व-युद्ध होना आरम्भ हो गया। अब्दाली को स्पष्ट प्रतीत हो गया कि उसकी सेना का दाहिना, बायां और मध्य—अर्थात् सारी सेना उसके सिपाही भागने लगे। पर वह अटल खड़ा रहा। उसने अपनी ही फ़ौज को आज्ञा दी कि जो लोग अपना स्थान छोड़कर भागते हैं, उन्हें मार दो। प्रातः ८ बजे युद्ध प्रारम्भ हुआ था और अब दो बज चुके थे। पर उस समय से लेकर अब तक यह भयङ्कर युद्ध एक क्षण के लिए भी न रुका। रणक्षेत्र में लहू की नदी बह निकली। मरते हुओं और घायलों की भयानक चिल्लाहट और कराहने की आवाज़, मारू बाजों तथा

बन्दूकों और वीरों के जयकारों के घोष के साथ मिल कर चारों ओर व्याप्त हो गई।

दो बज चुके थे। मरहठों की वीरता तथा अटल बाधा का मुसलमान शत्रुओं पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। अब्दाली भी, जो एक अनुभवी योद्धा तथा सेनापति था, मैदान छोड़कर यमुना के दूसरी पार जाने की सोचने लगा। लेकिन उसने बड़ी चतुराई से १०००० मनुष्यों की एक सहायक सेना अलग रख छोड़ी थी। यह सोचकर कि इससे अच्छा अवसर फिर न मिलेगा उसने उन्हें स्वयं भाऊ पर आक्रमण करने को आज्ञा दी। यह ताज़ादम सेना बिजली की गति से मरहठों पर जा टूटी।

सुबह से थके भाऊ और उसके सिपाही इससे भी नहीं डगमगाये। मरहठों ने उनकी इस ताज़ादम फ़ौज की इस टक्कर का बड़ी निर्भीकता से सामना किया। एक बार फिर स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि मरहठों ने युद्ध को क़रीब क़रीब जीत लिया है। अब्दाली अपनी अन्तिम चालाकी चल चुका था।

ठीक उसी समय एक सनसनाती हुई गोली यमदूत की तरह आई और वीर राजकुमार विश्वासराव को लगी जिससे घायल होकर वह हौदे पर गिर पड़ा। ऐसा सुन्दर और साहसी नवयुवक वीर, जिस पर समस्त जाति आँखें लगाये बैठी थी, प्राणघातक चोट लगने के कारण बेहोश हौदे पर लेटा पड़ा था। यह समाचार भाऊ के पास पहुँचा जो अपनी सेना का अध्यक्ष था और उन्हें प्रोत्साहित करता हुआ तथा पथ-प्रदर्शित करता हुआ ऐसा अद्वितीय युद्ध कर रहा था जिसे संसार ने अभी तक अनुभव नहीं किया था। आकाश से वज्र की भाँति वह ख़बर भाऊ पर पड़ी। सेनापति अपने प्रिय भतीजे के पास जल्दी से गया और देखा कि उसे प्राणघातक घाव लगा है और वह अपने शाही हौदे में खून से लथपथ पड़ा है। उदगिर-विजेता का पत्थर-सा कलेजा भी थोड़ी

देर के लिये टूट गया और उसकी गालों पर आँसू ढलकने लगे। दुःख से उसका गला रुंध गया और वह सिसकते २ पुकारने लगा "विश्वास! विश्वास !!" मरते हुए नवयुवक ने आँखें खोलीं और वीरोचित शब्दों में उत्तर दिया—"प्यारे चचा, मेरे पास क्यों रुके हुए हो ? अपने सेनापति के दूर रहने के कारण शायद हमारी पराजय हो सकती है।" मृत्यु का कष्ट भी उस वीर मरहठा-राजकुमार से उसके कर्त्तव्य को भुला नहीं सका। अब भी उसके मन में युद्ध का विचार ही था और वह चाहता था कि मैं मर भी जाऊं, पर युद्ध में हमें विजय प्राप्त हो। उसकी उत्तेजना से भाऊ फिर उत्साहित हो गया और होश सम्भालकर बोल उठा—"इसकी क्या परवाह है, मैं स्वयं ही शत्रु को पराजित करूंगा।" ऐसा कह कर वह फिर अपनी शक्तिशाली सेना को व्यूहबद्ध करने दौड़ पड़ा। सत्य-वादी और शूरवीर अब भी अपने स्थान पर डटे थे और विजयश्री अब भी मरहठों के हाथ थी।

पर विश्वासराव की मृत्यु का समाचार जंगल की आग की भाँति समस्त महाराष्ट्र-सेना में फैल गया, जिससे उन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। उसी समय दूसरी आपत्ति आई। दो हजार मुसलमानों ने एक या दो महीने पहले अब्दाली की नौकरी छोड़ दी थी और भाऊ ने उन्हें अपनी सेना में भर्ती कर लिया। युद्ध में उन्हें शत्रुओं से भिन्न पहचानने के लिये उनके सिर पर मरहठा गेरुआ झण्डा की पट्टी बंधवा दी गई थी। शायद पहले ही से तै कर लेने के कारण, उन्होंने एकाएक मरहठा-निशान उतार फैंका और बिश्वासराव की मृत्यु की अफवाह और झूठा भय फैलाते हुये पीछे की ओर मुड़े, जहाँ कैम्पों के रक्षक खड़े थे, और आक्रमण करके वहां लूट-मार शुरू कर दी। सेना के पिछले भाग में पठानों को देखकर मरहठे किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये, और जो लोग आगे की ओर लड़ रहे थे यह सोच कर कि शत्रुओं ने पीछे की ओर विजय प्राप्त कर ली है, पंक्ति तोड़ कर भाग निकले।

शत्रुओं को इस घटना पर विश्वास नहीं होता था। उन लोगों को पहले ही यह ज्ञात हो गया था कि अब वह प्रायः नाश के निकट हैं। मरहठे दाहिने, बायें और मध्य में भी विजय प्राप्त कर चुके थे। अब्दाली, जबकि अत्यन्त सख्ती के साथ अपने भागते हुए सिपाहियों का बध करता हुआ, अकेला ही अपनी सेना को तितर-बितर होने से रोक कर पूर्ण पराजय से बचने का उद्योग कर रहा था, एकाएक यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि किसी कारण मरहठों के पिछले भाग की सेना भयभीत होकर भागने की फ़िक्र में है। इसका कारण जानने से पहले ही अब्दाली की फौज ने उस भयभीत पंक्ति पर आक्रमण कर दिया। इस अन्तिम आक्रमण का मरहठा सेना का पिछला भाग मुक़ाबिला न कर सका। दाहिने भाग पर युद्ध रुक गया और उसमें भगदड़ मच गई।

परन्तु अब भी जिस स्थान पर भाऊ अपने कुछ चुने हुए आदमियों के साथ प्राण रहते जातीय झण्डे की रक्षा के लिये लड़ रहा था, घमसान की लड़ाई हो रही थी। अपने योद्धओं को 'लड़ो, मारो, काटो' इत्यादि शब्दों द्वारा उभारते २ भाऊ का गला बैठ गया। जब वह और न बोल सका तो इशारे से उत्साहित करते और उत्तेजना देते हुये अपने घोड़े को दौड़ाता हुआ बिल्कुल मौत के मुँह में ही चला गया। मुकुन्द शिण्डे ने जब उसे इस प्रकार निराश देखा तो उसके घोड़े को लगाम पकड़ ली और अत्यन्त विनीत शब्दों में प्रार्थना की—

"सेनापति! आपने जो वीरता दिखाई है वह अमानुषिक है। हमारे शूरवीर योद्धओं ने भी उतनी वीरता दिखला दी है जितनी मनुष्य के अन्दर हो सकती है। पर अब पीछे हट चलने में ही बुद्धिमानी है।"

सेनापति भाऊ ये शब्द सुन कर चिल्ला उठा और कहने लगा—"क्या कहा? हट चलो? क्या आप नहीं देखते कि हमारी जाति का श्रृङ्गार विश्वास मर गया और खेत में पड़ा है? मैंने एक एक करके सेनापतियों को युद्ध करने की आज्ञा दी और शत्रुओं से लड़ते

हुए उन्होंने रण-यज्ञ में अपनी आहुतियां डाल दीं। अब मैं किस प्रकार रणक्षेत्र छोड़ कर अपनी जाति और नाना साहेब को मुंह दिखलाने के लिए जीवित रह सकता हूँ ? मारो, मारो और मृत्यु-पर्यन्त शत्रुओं का संहार करो। यही मेरी अन्तिम आज्ञा है।"

मुकुन्द शिन्डे ने सेनापति को प्रणाम किया और उसकी इस अन्तिम आज्ञानुसार घोड़े से कूदकर 'हर-हर महादेव' का जयघोष करता हुआ अन्धाधुन्ध शत्रुओं के मध्य में टूट पड़ा। नवयुवक जनकोजी, यशवन्तराव पवार आदि सभी वीरों ने उसी का अनुसरण किया। और भाऊ ? उस पर तो मानो युद्ध का भूत सवार था, वह भी अन्धाधुन्ध शत्रु-सेना पर जा टूटा और सेना के बीच ऐसे स्थान पर जा घुसा जहाँ भयङ्करतम युद्ध हो रहा था। अपने शब्दों को सत्य में परिणत करता हुआ, आख़िरी दम तक शत्रुओं का वध करता हुआ तथा जातीय झण्डे की रक्षा करता हुआ वह वीर-गति को प्राप्त हो गया।

अन्तिम समाचार जो संसार के लोगों के पास उस वीर हिन्दू-सेनापति के सम्बन्ध में पहुंचा, वह यह था कि पानीपत की लड़ाई में जो हिन्दू-जाति की मुख्य हानि हुई, उसकी उसने वीरता और कर्त्तव्यपरायणता की आध्यात्मिक महिमा से क्षति-पूर्ति कर दी।

१५

पराजय जिसने विजेता को भी नष्ट कर दिया !

❀ "दंतच्छेदोहि नागानाम् श्लाघ्यो गिरिविदारणे"

पानीपत की लड़ाई से मरहठों की भयङ्कर हानि हुई, क्योंकि जिस समय भाऊ और उसके शूरवीर साथी अपने राष्ट्रीय झण्डे के चारों ओर अपूर्व युद्ध लड़ रहे थे, उस समय मरहठे सब मोर्चों से खदेड़े जा रहे थे और शत्रु बड़े उत्साह से उनका पीछा कर रहे थे। सहस्रों

❀ पर्वतों को उखाड़ने से यदि हाथियों के दांत टूट जाएं तो वे प्रशंसनीय हैं।

वीर धराशायी हो गये और सहस्रों को विजयी मुसलमान कैदी बनाकर अपने खैमों में ले गये और प्रातः काल उन्हें कतार में खड़ा कराकर बड़ी निर्दयतापूर्वक कत्ल कर डाला। इस लड़ाई में पठानों के हाथ लूट का माल भी बहुत आया।

किन्तु मरहठों ने अपने दुश्मनों से इसकी जो कीमत वसूल की वह इससे कहीं अधिक थी। पठानों ने विजय लाभ की पर इसके लिए उन्हें बहुत कीमत देनी पड़ी। अन्तिम दिवस पर ही यवनों के चालीस हजार सिपाही काम आये थे। गोविन्दपन्त का सिर काटने वाले सेनापति अताई खां, उस्मान तथा अन्यान्य-मुस्लिम नेताओं का वध किया गया। नज़ीबखां भी बुरी तरह जख्मी हुआ। इसके अतिरिक्त मुसलमान भी यह अनुभव करने लगे कि उनकी जीत शक्ति और सेनापतित्व के कारण इतनी अधिक नहीं हुई जितना कि संयोगवश।

मरहठे युद्ध में हार गये, परन्तु शत्रु पर इतनी कड़ी चोट लगाई कि वह सदा के लिये युद्ध में विजय प्राप्त करने के अयोग्य बन गया।

यदि पानीपत में हार ही हुई तो क्या हुआ? पानीपत में मरहठे नष्ट हो गये थे, पर महाराष्ट्र में अब भी जिन्दा थे। प्रत्येक घर को अपने किसी-न-किसी सम्बन्धी के लिये, जो कि पानीपत की लड़ाई में शहीद हुआ था, शोक करना पड़ा था। इस पर भी उस समय महाराष्ट्र में ऐसा बिरला ही कोई घर बचा होगा जिसने अपनी राष्ट्रीय मर्यादा को पुनः स्थापित करने और अपने सिपाहियों के बलिदान को सार्थक बनाने तथा उस उद्योग को, जिसके लिये उन्होंने अपने प्राण गंवाये थे, फलीभूत करने की प्रतिज्ञा न की हो। अब्दाली की कार्य-क्रमावली को रोकने के लिये पेशवा ५०,००० सेना के साथ पहले ही नर्बदा पार कर चुका था। अपनी जनता और मुख्यतः अपने परिवार पर आये हुए विपत्ति-समाचार को सुन कर, नाना ने पानीपत की दुर्घटना पर विचार किये बिना, आगे बढ़ कर अब्दाली की शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट

करने का दृढ़ निश्चय कर लिया ताकि वह उत्तर भारत स्थित मरहठा सेना की पराजय और उससे उत्पन्न बुराइयों का लाभ न उठा सके। यद्यपि उसका व्यक्तिगत शोक सचमुच असहनीय था और उसका स्वास्थ्य पहले से ही खराब था, तो भी अपनी जाति और सम्बन्धियों के बदला लेने और अब्दाली को हराने के भाव ने उसे चैन न लेने दिया। उसने समस्त उत्तर-भारत के हिन्दू-राजाओं को बड़े जोरदार शब्दों में पत्र लिखे जिनमें उसने लिखा कि आप लोगों ने युद्ध से अलग रह कर तमाशा देखने की जो आत्मघातिनी नीति ग्रहण की है उस पर धिक्कार है। और शत्रुओं की ओर उनका ध्यान दिलाते हुए लिखा कि आपके धर्म के शत्रु तथा हिन्दुत्व के विरोधी सब मिलकर हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के नाश करने के लिये सुसंगठित उद्योग कर रहे हैं, अतः आप लोगों का युद्ध से अलग हाथ पर हाथ धरे रहना ठीक नहीं है। उसने लोगों को हिन्दू धर्म की स्वतन्त्रता के युद्ध में अपनी सहायता करने के लिए निमन्त्रित किया। और उन्हें विश्वास दिलाया कि यद्यपि हमें पानीपत के युद्ध में हार हुई तो भी मैं मुगलों के नष्ट राज्य के स्थान पर अब्दाली की दूसरे मुसलिम-राज्य के स्थापित करने की महत्वाकांक्षा को निष्फल कर दूंगा। उस ने लिखा, "यह सत्य है कि मेरा नवयुवक राजकुमार विश्वासराव अभिमन्यु की तरह युद्ध करता हुआ स्वर्गगामी हुआ। मेरे भाई भाऊ और जनको जी के विषय में किसी को मालूम नहीं कि उनके साथ क्या बनी। इसके साथ कई अन्य सेनापति और सरदार भी मारे गये। लेकिन इन बातों की कोई चिंता नहीं करनी चाहिये। आखिर यह युद्ध है। हार और जीत का प्रश्न बहुधा संयोग और ईश्वरेच्छा पर निर्भर रहता है। अतः इसका विशेष शोक नहीं। इन सब के होते हुए भी हम इस के लिये प्रयत्न करेंगे।"

इस अक्षय दृढ़ता तथा डटे रहने के गुण ने, जिसे मरहठों ने इस विकट जातीय नाश के समय भी प्रकट किया, उन्हें हिन्दुस्थान का

स्वामी बना दिया। अब्दाली अपने शत्रुओं के स्वभाव से भली-भांति परिचित था और उनकी योग्यता का भी उसे पूर्ण ज्ञान था। ज्योंही पानीपत में विजय प्राप्त हुई, अब्दाली ने सोचा कि यदि मैं शीघ्र अपने देश को न लौटा तो जो थोड़ा सा लाभ प्राप्त हुआ है, वह भी मुझे विवश होकर खो देना पड़ेगा। नाना साहिब ने पानीपत के युद्ध में बचे हुए सरदारों और आदमियों को इकट्ठे कर लिया था। मल्हरराव होल्कर, विट्ठल शिवदेव, नरोशङ्कर, जानोजी भोंसले तथा अन्यान्य मरहठे-सरदार अपनी-अपनी सेनाओं के साथ ग्वालियर में एकत्र होने लगे और उनके साथ नानासाहेब दिल्ली पर आक्रमण करने के लिये आगे बढ़ा। मरहठों के इस विचार को जान कर शुजा और नजीबखां भी कांप उठे, उन्हें निश्चय हो गया कि पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्त करने का यह अर्थ नहीं है कि मरहठों पर विजय प्राप्त कर ली है। अतएव उन्होंने स्वतन्त्र रूप से सुलह की बात-चीत करनी प्रारम्भ की और नाना साहब के पास, जो ग्वालियर तक आ पहुँचा था, चापलूसी-भरे पत्र भेजने लगे। शुजा इस तथ्य को भली-भांति जानता था कि अब्दाली न ही अकेले, और न ही औरों की सहायता से हिन्दुओं को कुचल सकता है और न ही मुगल राज्य के लड़खड़ाते भवन को गिरने से बचा ही सकता है। अतः मुसलमानों की सेनाओं में भगदड़ मच गई। प्रत्येक सेना अपने बचाव का उपाय सोचने लगी। इसलिये शुजा ने भी अब्दाली का साथ छोड़ दिया। अब्दाली दिल्ली लौट आया और वहां एक-दो सप्ताह ठहरा। नाना साहिब ५०,००० सेना लेकर दिल्ली की ओर बड़ी तेजी के साथ आ रहा था। जब यह समाचार पहुँचा कि अब्दाली के देश पर फारस वालों ने आक्रमण किया है तो अब्दाली का ध्यान उसी ओर गया और चिन्तित हो दिल्ली और दिल्ली के राज्य को छोड़ कर सन १७६१ में मार्च के महीने में सिन्ध को पार कर के जल्दी से वह अपने देश को लौट गया। इस प्रकार जिन इच्छाओं से प्रेरित होकर उसने सिन्ध पर आक्रमण किया

था. वे सारी मिट्टी में मिल गईं और वह जैसे खाली हाथ आया था उसी प्रकार वापस चला गया।

विदेशी स्वधर्मियों की सहायता द्वारा दिल्ली-राज्य को, हिन्दुओं के आक्रमण से बचाने के लिये भारतीय मुसलमानों का यह अन्तिम प्रयत्न था। उन्होंने पानीपत की लड़ाई को जीता, किन्तु इस जीत के परिणाम स्वरूप उनका, महाराष्ट्र-मण्डल की हिन्दू शक्ति को नष्ट करने या मरहठों की प्राणविनाशक पकड़ से मुसलमानी राज्य के गले को छुड़ा कर उसकी रक्षा करने के अन्तिम अवसर का भी अन्त हो गया।

इसके बाद कभी विदेशीय पठान दिल्ली न पहुंच सके। उन्होंने शीघ्र ही सिंध नदी पार करना बन्द कर दिया।

पानीपत के नाश के पश्चात् हिन्दुओं की एक दूसरी प्रबल शक्ति का भी पंजाब में बड़ी शीघ्रता से विकास हुआ। यह शक्ति सिक्ख-मंडल की थी। इन शूरवीरों ने अपनी धार्मिक संस्था को धीरे २ स्थापित किया, जिसे उन्हों ने शहीदों के रक्त से सींच कर शीघ्र ही एक शक्तिशाली राज्य में परिणत कर दिया। दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी तथा वीर योद्धा और अपने धर्म पर बलि देने वाले बन्दा बहादुर की अध्यक्षता में सिख लोग हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के लिए पजाब में लड़े। इन दोनों महापुरुषों की पूजा हिन्दुस्तान के जातीय हिन्दू-शूरवीरों की श्रेणी में सदैव होती रहेगी। बन्दा की अध्यक्षता में कुछ समय तक वे अपने देश के कुछ भाग को स्वतन्त्र करने में सफल हुए किन्तु पंचनद के अन्तर्गत देश को हिन्दू राज्य के भीतर लाने का काम अब भी मरहठों के लिए सुरक्षित पड़ा था। इस कठिन काम को उन्हों ने सम्पूर्ण किया और यद्यपि मरहठा वीर अपने घरों से सुदूर लड़ रहे थे और शेर को उसकी गुफा में ही ललकार रहे थे तो भी उन्हों ने हिन्दू-ध्वजा को सीधे अटक तक पहुंचा ही दिया। पृथ्वीराज के पश्चात् यह पहला ही मौका था जब हिन्दुओं की ध्वजा वहां तक पहुची। जिस समय वे मुसलमानों तथा उनके सहायक नादिरशाह और अब्दाली के मुगल-राज्य के

पुनरुत्थान के प्रयत्न को अपनी वीरता और साहस द्वारा असफल बना रहे थे, उन्हीं दिनों सिक्खों को अपने को एक शक्तिशाली मंडल में संगठित करने का अवकाश मिल गया। पानीपत के युद्ध में इतनी बड़ी हानि उठा कर अब्दाली ने पंजाब के राज्य को अपने राज्य में मिलाने का जो थोड़ा बहुत सुख-स्वप्न देखा था इस नई शक्ति ने उससे भी वंचित कर दिया। अब पंजाब महाराष्ट्रीय हिन्दुओं के हाथ से निकल जाने पर भी मुसलमानों के हाथ में न रह सका। अब्दाली के प्रस्थान करते ही पंजाब के हिन्दुओं ने उनके मोर्चों पर आक्रमण कर दिया और यद्यपि वह दोबारा सिंध पार करके आया तो भी उन्होंने अपनी मातृ-भूमि को स्वतन्त्र करा ही लिया। शीघ्र ही मरहठों ने भी दिल्ली में प्रवेश किया और एक बार फिर वे सम्पूर्ण भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ राज्य-शक्ति बन गये। सिक्खों ने भी सोचा कि वे कभी भी अपना शासन अपने प्रांत की सीमाओं के पार, पूर्व की ओर दिल्ली तक न बढ़ा सकेंगे तो भी वे इतने शक्तिशाली हो गये थे कि अपनी रक्षा बाहर से आने वाले शत्रुओं से भलीभांति कर सकते थे। अतः फिर कभी भयानक हठ-धर्मी तथा लोभी पठानों या तुर्कों की इच्छा सिन्धु नदी पार करने की न हुई। उलटे सिक्खों ने ही सिन्धु नदी पार करके अपनी जातीय ध्वजा को बड़ी धूमधाम से काबुल नदी के किनारे तक पहुंचा कर शत्रुओं को नतमस्तक होने पर विवश किया। उनके आतंक से मुसलमान इतने भयभीत हो गये थे कि पठानों के घरों में सिक्खों का नाम लेकर छोटे २ बच्चों को डराया जाता था।

पान-हिन्दू-दृष्टि से देखा जाये तो मुसलमान सर्वथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने में असमर्थ रहे। उन्होंने पानीपत की लड़ाई में विजय तो अवश्य प्राप्त की पर इस विजय में वे उस युद्ध में हार गये जिसे उन्होंने हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने वालों के विरुद्ध उठाया था, और पानीपत के साथ साथ उन्हें सारे हिन्दुस्तान अर्थात् अटक से लेकर समुद्र तक के सारे प्रदेश को हिन्दुओं के अधीन छोड़ना पड़ा।

पर उन्हीं दिनों जब कि हिन्दू इस बड़ी लड़ाई को उत्तर भारत में अपने यवन विरोधियों के साथ लड़ रहे थे, एक तीसरा लड़ाका इस भीषण तमाशे को देखता रहा और धूर्तता से धीरे २ लड़ने वालों की श्रेणी में आने का प्रबन्ध करने लगा। पानीपत की लड़ाई से इन्हें ही सब से अधिक प्रसन्नता हुई क्योंकि पानीपत की लड़ाई से हिन्दू और मुसलमान दोनों शक्तिहीन हो रहे थे। अतः मरहठों को बंगाल पर आक्रमण के निश्चय को किसी अन्य समय के लिये उठाना पड़ा। पानीपत की लड़ाई के वास्तविक विजेता न हिन्दू थे और न मुसलमान—वरन् ये धूर्त षडयंत्रकारी अंग्रेज थे जो कि उस युद्ध को ध्यानपूर्वक देखते रहे और उन दोनों की दुर्बलताओं का लाभ उठाते रहे।

यद्यपि यह बात सत्य है कि पानीपत की लड़ाई ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को कुछ दिनों के लिये और जीवन-प्रदान कर दिया और मरहठों को विवश किया कि वे अंग्रेज़ों के साथ अपना अन्तिम हिसाब-किताब करने के विचार को स्थागित कर दें, तथापि यह सोचना भूल है कि केवल इस लड़ाई से ही अंग्रेजों को कोई बड़ा स्थायी लाभ हुआ हो क्योंकि हम आगे देखेंगे कि मरहठों ने शीघ्र ही पानीपत की क्षति को पूरा कर लिया था। यदि मरहठों में घरेलू झगड़े न उत्पन्न हुए होते तथा उनके सुयोग्य नेताओं की असामयिक मृत्युएं न हुई होती तो पानीपत में हार होने पर भी उन्होंने अंग्रेज़ों को भी जीत लिया होता। अंग्रेजों की सफलता मरहठों के पानीपत में हारने के कारण उतनी अधिक न हुई जितनी अन्त समय उनमें आपस में लड़ाई हो जाने के कारण हुई।

इस विषय में मेजर इवान्सबाल लिखता है—"पानीपत की लड़ाई भी मरहठों के लिये गौरव और विजय ही सिद्ध हुई। मरहठे हिन्दुस्थान और हिन्दुस्थानियों के लिये लड़े, पर उनके हार जाने पर भी विजयी

अफ़गानों को अपने देश को लौट जाना पड़ा और इसके पीछे उन्होंने कभी हिन्दुस्थान के कामों में हाथ न डाला।"

जब अब्दाली के शीघ्र लौट जाने का समाचार और शुजा तथा नजीबखां के प्रार्थना-पत्र मरहठों के पास पहुँचे तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। नारोशंकर ने पानीपत की लड़ाई के दो महीने पश्चात् लिखा था—"ईश्वर का धन्यवाद है कि धर्म के स्तम्भ मरहठे-हरिभक्तों की सेना अब भी हिन्द की स्वामिनी है।" सेनापति का यह वीरता-पूर्ण अंतिम वाक्य क्रमशः एक के पश्चात दूसरे मरहठे की ज़बान से सुनाई देने लगा और सभी कहने लगे "इसकी कोई चिन्ता नहीं, आखिर यह युद्ध है, हम इसके लिये पुनः प्रयत्न करेंगे।"

इसी बीच में नानासाहब का स्वास्थ्य क्रमशः शोचनीय होता गया क्योंकि अन्तिम दो वर्षों से उनका शरीर शिथिल होता जा रहा था और इसी समय पानीपत का दुःखद समाचार उनको मिला। उन्होंने शूरवीरों की भांति इसे सहन करने का प्रयत्न किया, अपनी व्यक्तिगत दुःख-वेदना को छिपाकर अपनी जाति को इतना उत्साहित और इस योग्य बनाया कि वह अपनी पराजय का बदला ले सके और बढ़कर एक शक्तिशाली और विजयी जाति बन जाए। किन्तु उसके हृदय में विश्वास, भाऊ तथा बहादुर सैनिकों और सिपाहियों की मृत्यु का दुःख ऐसा बैठ गया था कि कोई भी वस्तु उन्हें सांत्वना प्रदान न कर सकी। इनका स्वास्थ्य पहले ही से बिगड़ता जाता था, चिन्ता ने दशा और भी शोचनीय बना दी और अन्त में वे २३ जून सन १७६१ ईस्वी को इस असार संसार से चल बसे। उस समय उनकी अवस्था केवल ४१ वर्ष की थी। इस प्रकार मरहठों के एक वीर नेता की असामयिक मृत्यु ने सारी प्रजा को दुःख-सागर में डुबो दिया।

उनकी योग्यता और उनके चरित्र के सम्बन्धी में यहां कुछ लिखना व्यर्थ है। उन्हें उनके कार्य, शब्दों की अपेक्षा अधिक बतला सकते हैं।

उनका राज्य-प्रबन्ध भी न्यायपूर्ण और सर्वप्रिय था। उनके शासन-काल को मरहठे अब भी धन्यवादपूर्वक स्मरण करते हैं। महाराज शिवाजी के हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने के उद्देश्य को कार्य-रूप में परिणत करने का कार्य उन्हीं के करने के लिए सुरक्षित पड़ा था। वास्तव में उन्होंने ही सारे भारतवर्ष को यवनों के पंजे से मुक्त कराया। उनके राज्य-काल में, पृथ्वीराज की पराजय के बुरे दिन के छः सौ वर्ष पश्चात्, आज हिन्दू-गौरव सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच पाया था। निस्सन्देह यदि वे संसार में अपने समय के सबसे बड़े आदमी नहीं, तो भी महान् व्यक्तियों में से अवश्य थे। बालाजी उपनाम नाना साहब की असामयिक मृत्यु से जो राष्ट्र की हानि हुई वह पानीपत की लड़ाई की हानि से यदि अधिक न थी तो उससे किसी अंश में कम भी न थी। ये दो बड़े भयानक आघात इस जाति पर एक साथ पड़े। इन घटनाओं से राष्ट्र को जो धक्का लगा उसकी क्षति-पूर्ति के लिए कुछ समय लगा।

१६

धर्मवीर माधोराओ

* भुवमधिपतिर्बालावस्थोप्यलं परिरक्षितुम्।
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्य सहोभरः ॥

नानासाहब की मृत्यु के पश्चात् मरहठों को नेताविहीन देख कर और यह विचार करके कि पानीपत की लड़ाई में हार होने के कारण महाराष्ट्र-मण्डल नष्ट हो जाएगा, शत्रु लोगों ने सिर उठाया और चारों ओर से उसे घेर लिया। हैदरअली को अवसर मिल गया और उसने मैसूर के राज्य को हिन्दू-राजा के हाथ से छीन लिया तथा मरहठों के दक्खिन राज्य पर आक्रमण किया। निज़ाम हैदराबाद अपनी उदुगिर

---

* यह व्यक्ति बालक होता हुआ भी स्वामी बन कर राज्य को संभाल सकता है। यद्यपि इसकी आयु छोटी है तो भी यह स्वभाव से ही अपने राज्य का कार्य-भार उठा सकता है।

को हार का बदला लेने के लिए बड़े ज़ोर से तैय्यारी करने लगा। अंग्रेज़ भी यथाशक्ति नोच-खसोट करने का प्रयत्न करने लगे। उत्तर में मुसलमान ही नहीं, बल्कि राजपूत, जाट और दूसरे राजे भी मरहठों के द्रोही बन गये। हर एक का यही प्रयत्न था कि अपने राज्य को जितना अच्छा हो सके, बना लें। ठीक उसी समय जब कि मरहठों के शत्रु उनको चारों ओर से घेर कर नष्ट करना चाहते थे, तथा उनके हिन्दू-स्वातन्त्र्य के महान् उद्देश्य को मिट्टी में मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे, रघुनाथ अपनी नीच इच्छा से प्रेरित होकर महाराष्ट्र-मंडल को, बलवाइयों का एक दल बनाकर, लड़ाई करके अपने अधिकार में लाना चाहता था।

ऐसे समय में राज्य की भारी जिम्मेदारी तथा ऐसे कठिन समय में राज्य का सारा उत्तरदायित्व बालाजी के द्वितीय पुत्र माधोराओ पर पड़ा। उस समय उसकी अवस्था अभी केवल १७ वर्ष की थी। हिन्दू-जाति के सौभाग्य से उसमें अपूर्व गुण और सम्मोहन-शक्ति विद्यमान थी और वह हिन्दू-पद-पादशाही में, जिसके लिए उसके पूर्वज अपना लहू बहा चुके थे, इतने अनुरक्त थे कि उनकी अध्यक्षता में महाराष्ट्र-जाति ने अनेक कठिनाइयों पर विजय पाई और अपने राजनैतिक अस्तित्व को शत्रुओं के विरोध के होते हुए भी बनाये रखा।

सबसे पहले निज़ाम हैदराबाद ने अपने भाग्य को आज़माया। उसने यह अनुमान करके कि मरहठों की शक्ति नष्ट हो गई है सीधे पूना के लिए यात्रा आरम्भ कर दी। मरहठों का, जो हिन्दू-धर्म की रक्षा का बीड़ा उठाये हुए थे, परिहास करने के लिए उसने टौंक के हिन्दू-मन्दिर को अपवित्र और नष्ट कर दिया लेकिन जब मरहठे अपनी राजधानी को बचाने के लिये ८० हज़ार वीरों की सेना लेकर उसके मुकाबले में आ डटे तो वह निराश हो गया। उसको उराली पर भारी हार हुई और दुम दबाकर वह पीछे भाग गया। लेकिन रघुनाथ राव बड़ा नीच व्यक्ति था। उसने षड्यन्त्र रच कर अपने ही नव-

युवक भतीजे माधोराओ के विरोध में मरहठों के दो दल कर दिये। ठीक इसी समय निज़ाम मरहठों का नाश करने के लिये एक बड़ी भारी सेना लेकर दूसरी बार आया। भोंसले और दूसरे मरहठे सरदार वास्तव में उसके पक्षपाती हो गये थे।

महाराष्ट्र का इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि कई बार लोगों में स्वार्थपरता तथा राष्ट्र-विरोध की भावनायें फैलीं; किन्तु जब कभी जातीय गौरव के भंग होने की सम्भावना दिखाई पड़ती वे जातीय प्रतिष्ठा को बचाने के लिये अपनी शत्रुताओं को भूल जाते जिससे स्वार्थपरता तथा राष्ट्र-विरोधी भावनायें स्वत: मिट जाया करती थीं और लोग शीघ्र ही महाराष्ट्र-मंडल के पक्षपाती बनकर, उसके उद्देश्य की पूर्ति में लग जाते थे। यह गुण मरहठों में बहुत काल तक विद्यमान रहा। इस बार भी ऐसा ही हुआ। मरहठे सरदारों ने, जो गृह-कलह के कारण पेशवा के विरुद्ध निज़ाम के पक्षपाती हो गये थे, उसका साथ दिया और मरहठा-दल में सम्मिलित हो गये। निज़ाम बड़ी भयानक परिस्थिति में पड़ गया। १७६३ ई० में राक्षसभुवन में एक बड़ा भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें मरहठों की बड़ी शानदार विजय हुई। निज़ाम का दीवान मारा गया। उसके २२ सरदार घायल हुए और पकड़े गये। उसकी तोपें और युद्ध की सारी सामग्री मरहठों के हाथ लगी। उद्गिर की हार का बदला लेने के लिये और पूना में करभरी नियत करने के अधिकार को जताने के लिये उसने आक्रमण किया था किन्तु उल्टे उसे मरहठों को अपने राज्य का कुछ भाग देना पड़ा, जिस की वार्षिक आय ८२ लाख रुपये से कम न थी। यह पहली लड़ाई थी, जिसमें नवयुवक पेशवा ने वीरता दिखाई और विजय प्राप्त करके यश प्राप्त किया। इस विजय के कारण सब लोगों को विश्वास हो गया कि इस नवयुवक पेशवा में नेता बनने के सारे गुण वर्तमान हैं अत: यह उनकी जाति का भली भांति नेतृत्व कर सकता है और आपत्तियों से राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है।

निज़ाम हैदराबाद के मन में यह बात बिठा कर कि मरहठे

पानीपत की लड़ाई में पराजित होने पर भी शक्तिहीन नहीं हुए हैं, माधोराओ साहसी हैदरअली को दण्ड देने के लिये आगे बढ़ा। हैदरअली पानीपत की लड़ाई का लाभ उठाकर मैसूर के पुराने हिन्दूराज्य को विध्वंस करके वहां का नवाब बन बैठा था और उसने मरहठों के भी कृष्णा नदी तक के राज्य पर धावा कर दिया था। सन् १७६४ ई० में माधोराओ ने हैदरअली पर आक्रमण किया। मरहठों ने पुनः धारवाड़ को ले लिया। घोरपाडे, विंचरकर, पटवर्धन और दूसरे मरहठे सेनापतियों ने हैदरअली को चारों ओर से घेर लिया।

यद्यपि हैदरअली बड़ा चतुर सेनापति था, तथापि रत्तीहल्ली के मैदान में जी तोड़ कर लड़ने के पश्चात् उसे अनुभव हो गया कि वह शत्रुओं के सामने अब अधिक नहीं टिक सकता। यह विचार दृढ़ होते ही वह बड़ी चालाकी के साथ पीछे हट जाने के विचार से अपनी राजधानी की ओर लौटा किन्तु बिदनूर के पास माधोराव ने उसे आगे से रोक लिया। एक भयानक लड़ाई हुई जिससे मुसलमानों की बड़ी भारी हानि हुई। इस लड़ाई में कमान माधोराओ के हाथ थी। उन्होंने ऐसा भयंकर आक्रमण किया कि यवनों के छक्के छुड़ा दिये। हैदरअली के साथ फ्रांसीसियों द्वारा शिक्षित बड़ी अच्छी सेना भी थी फिर भी वह बुरी प्रकार हार गया और उसके हजारों घोड़े, ऊंट, तोपें विजयी मरहठों के हाथ लगीं। हैदरअली ने सुलह के लिये प्रार्थना की जिसको मरहठों ने स्वीकार कर लिया। इस सुलहनामे के अनुसार जो देश मरहठों ने जीते उन्हीं के पास रहे और २२ लाख रुपया 'कर' और "चौथ" का बकाया वसूल किया।

यदि माधोराओ की इच्छानुसार कार्य हुआ होता तो उसने हैदरअली को इस शर्त पर भी न छोड़ा होता लेकिन रघुनाथराओ का नीच लालच मरहठों के लिये हैदरअली और नजीबखां की अपेक्षा अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ। जब पेशवा रणभूमि में हिन्दू शक्ति के विरोधियों का मुकाबला कर रहा था ठीक उसी समय उसने कई बार नवयुवक पेशवा

के विरुद्ध बगावत की। संसार की कोई वस्तु रघुनाथराव की शक्तिशाली होने की इच्छा को नहीं दबा सकती थी और जिस पद के लिये वह प्रयत्न कर रहा था, उस के लिये वह सर्वथा अयोग्य था। उसने स्वतन्त्र रूप से अपने भतीजे के विरुध विधर्मियों के राजा की सहायता करने के नीच उपाय का अवलम्बन किया और जब कभी लड़ाई में हारकर पकड़ा जाता और कैद किया जाता तो अन्न-जल छोड़ भूखों मर जाने की धमकी देता तथा इसी प्रकार की और बातें करता रहता। मुगल राज्य के इस प्रकार के आपत्तिजनक दावेदार के भाग्य का निर्णय एक क्षण में ही एक बूंद ज़हर देकर या उसके बदन में हंसी हंसी में एक तीखी तलवार घुसेड़कर अथवा पेशवा के दो अश्रुबिंदुओं के कारण हो सकता था। किन्तु यह नवयुवक ब्राह्मण-राजकुमार सज्जनता और धर्म की मूर्ति था। उसने अपने चचा रघुनाथराव को, उसके राज्य के बांट देने के प्रस्ताव पर, यहां तक लिख दिया कि –"चचा! आप राज्य बांटने के लिये कहते हैं, किन्तु सोचिये कि बड़े राज्य का मालिक कौन है? क्या वह किसी की निजी सम्पत्ति है? सहस्रों शूरवीर तथा राजनीतिज्ञों ने इसे इतना बड़ा और प्रभावशाली बनाने के लिये प्राण-पण से कार्य किया है। राज्य की बागडोर सदैव एक पथ-प्रदर्शक के हाथ में रहनी चाहिये। लेकिन यदि इसे बांटकर खण्ड-खण्ड करके भिन्न-भिन्न राज्य बना दिये जांय तो क्या ये राज्य इस प्रकार अपने प्रभाव और शक्ति को अक्षुण्ण रख सकेंगे? मैं सोचता हूं कि ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसको बांटकर शक्तिहीन बनाने की अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझता हूँ कि मैं अपने आपको इससे बिलकुल पृथक् करलूं और आप को बिना किसी प्रतिद्वन्द्विता के इस राष्ट्र-मण्डल का नेता बना दूं। मैं अधिनायक के दावे को सर्वथा त्यागकर आप की सेना में एक सिपाही के रूप में भरती हो जाऊंगा। जो कुछ आप मुझे निर्वाह के लिये दोगे उसी पर अपना निर्वाह करूंगा; किन्तु मैं आनेवाली सन्तान के सामने अपनी गणना ऐसे व्यक्ति के रूपमें नहीं कराना चाहता जिसने अपने

निजी स्वार्थ के लिये महाराष्ट्र-साम्राज्य का बलिदान कर दिया हो।

किन्तु मरहठों के कुल में रघुनाथ जैसा दूसरा कोई अयोग्य और चंचल प्रकृति का पुरुष पैदा नहीं हुआ था। इस लिये महाराष्ट्रवासी बलवान, न्यायशील तथा शूरवीर पेशवा के रहते हुए कभी भी रघुनाथराव को अपना नेता न मान पाते, भले ही वह इस पद को ग्रहण कर लेता।

१७

पानीपत की लड़ाई का बदला

मरहठे अपनी भलाई करने वालों के प्रति सर्वदा कृतज्ञ और अपने शत्रुओं के प्रति निर्दयी होते हैं। यदि उनका कोई अपमान करे तो वे उसका बदला लेने के लिये अपनी जान जोखिम में डाल देते हैं।"—ह्यूँ साँग

जिन लोगों ने पानीपत की लड़ाई में मरहठों के विपक्ष में भाग लिया था, उनको उचित दण्ड देने के परम कर्त्तव्य को मरहठे, घरेलू झगड़ों तथा आपस की फूट तथा हैदरअली और टीपू की नई शक्तियों का सामना करते हुए भी किसी प्रकार न भुला सके। नानासाहब के मरने के पीछे कुछ समय तक दो मरहठा-सरदार होल्कर और शिन्दे उत्तरी-भारत में मरहठों के अधिकारों की रक्षा अपनी शक्ति अनुसार बड़ी उत्तमता से करते रहे। जब घरेलू लड़इयों तथा रघुनाथ राव के षड्यन्त्रों का उचित प्रबन्ध हो गया तब माधोराव ने सन् १७६६ ई० में विपक्षियों को दण्ड देने के लिये एक सेना बिनीवाले की अध्यक्षता में उत्तरी भारतवर्ष की ओर भेजने का निश्चय किया तथा उत्तर में रहने वाले सारे मरहठे सेनापतियों को आज्ञा दी कि वे इससे मिल जांय। हिन्दू-राज्य के प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने और उसकी आज्ञाओं का पालन कराने के दृढ़ उद्देश्य से, तथा जिन छोटे २ हिन्दू-राज्यों ने सन् १७६१ ई० के पीछे मरहठा-राज्य को नाश करने का उद्योग और उपाय किया था, उन सब को शक्तिहीन बनाने के लिये, मरहठों की शक्तिशाली सेना नर्वदा नदी

पार करके बुन्देलखण्ड में जा पहुँची और छोटे-छोटे विद्रोहों को दबाती हुई तथा हठी और धनी राजाओं तथा तालुकेदारों को दण्ड देती हुई यह सेना बिना किसी विशेष विरोध के चम्बल नदी पर पहुंच गई। जाट लड़ने को तैयार हो गये और आगरा आदि दुर्गों को, जिनको कि इन लोगों ने पानीपत की लड़ाई के समय से हड़प कर रक्खा था, वापिस करने से इन्कार कर दिया। भरतपुर के पास एक घमसान की लड़ाई हुई। जाट बड़ी शूरता और वीरता के साथ मरहठों से लड़े, किन्तु अन्त में मरहठों के आक्रमण को रोकने में असमर्थ होकर, लड़ाई में अपने सहस्रों मरे हुए साथियों, अपने खेमों, अपने हाथी घोड़े और लड़ाई के सामान को छोड़कर भाग गये। यह सारी सामग्री मरहठों के हाथ लगी। इसके पश्चात शीघ्र ही उनके नेता नव्वाबसिंह ने मरहठों का दबाया हुआ भाग लौटा कर और ६५ लाख रुपया उपहार रूप में देकर उनसे सुलह कर ली। अब मरहठों की सेना दिल्ली के दरवाज़ों की ओर बढ़ी। उन्हें यह आशा थी कि उनके शत्रु उनका वहाँ सामना करेंगे। लेकिन उस मक्कार और बूढ़े नजीबखां ने जब मरहठों के विजय करते हुए आने का समाचार सुना तब उसने बड़ी नम्रता और दीनता के साथ मरहठों के शिविर में आकर उनसे प्राण-भिक्षा मांगी। इसके अतिरिक्त वह और भी सब कुछ करने को उद्यत था। जो कुछ द्वाबा में लूटा था, मरहठों के हवाले कर दिया और उनके लिये दिल्ली का मार्ग अबाधित बना दिया। वह चाहता था कि किसी प्रकार जान बच जाय, ताकि वह पुनः उचित समय पर उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रच सके। पर इस बार उस पानीपत की लड़ाई के रचने वाले मक्कार को मरहठों की प्रतिहिंसा की अग्नि से कोई सुरक्षित न रख सकता यदि मृत्यु बीच में आकर उन मनुष्यों के क्रोध से—जिनकी पानीपत में हार हुई थी—उसकी रक्षा न करती।

मरहठों ने दिल्ली में प्रवेश किया। पर अकबर और औरङ्गज़ेब की राजधानी में कोई भी उनका सामना करने वाला न निकला। अहमदशाह

अब्दाली ने जिसकी बुद्धि अन्तिम लड़ाई के अन्त में ठीक हो गई थी और पेशवा से पहले ही से पत्र-व्यवहार करने लगा था, अपने राजदूत को पूना भेजा। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् दोनों पक्ष एक समझौते पर पहुँचे। जिसके अनुसार अहमदशाह अब्दाली ने प्रसन्नतापूर्वक सन्धि के नियमों को स्वीकार किया कि अब वह हिन्दुस्तान के राजनैतिक कार्यों में कभी भाग न लेगा और साथ ही उसने मरहठों को भारतवर्ष का संरक्षक भी मान लिया। इस प्रकार पानीपत के विजयी ने स्वयं अपनी विजय और उन इच्छाओं की तुच्छता स्वीकार कर ली जिनसे प्रेरित होकर उसने लड़ाई ठानी थी, और साथ ही मरहठों की शक्ति को भारतवर्ष की सबसे महान् शक्ति मान लिया। अफ़गानों की जड़ को इस प्रकार भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र से खोद और दिल्ली पर अधिकार करके मरहठों ने अब पठानों और रुहेलों का भी विच्छेद कर दिया। वास्तव में दोनों ही मुसलमान शक्तियों के केन्द्र थे। भारत के शासन की बागडोर हिन्दुओं के हाथ में जाने से रोकने के लिए ये अब तक भी जान तोड़ कर लड़ने के लिए तैयार थे। लेकिन उनकी परीक्षा का भी दिन आ गया। जो अपमान और अत्याचार रुहेले और पठानों ने पानीपत की लड़ाई में मरहठों के साथ किये उनका स्मरण करके ही उन्होंने बदला लेने के लिए तलवारें उठाई थीं। इन अपमानों तथा अत्याचारों के स्मरण से जो प्रतिहिंसा की शक्तियां उभरती थीं वे शायद नष्ट होने पर ही शांत हो सकती थीं, अन्यथा उनको भुलावे में नहीं डाला जा सकता। इस बात को रुहेले और पठान भी अच्छी तरह जानते थे। अतः वे अपने पुराने अनुभवी नेता हाफ़िज़ रहमत और अहमदखां बंगश की अध्यक्षता में मिल गये और उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि वे मरहठों का हर प्रकार से मरते दम तक सामना करेंगे। इन दोनों ही नेताओं को पानीपत के युद्ध का विशेष अनुभव था।

कुछ दिन दिल्ली में रह कर मरहठे द्वाबे में पहुँचे। उन्हें वहां यह मालूम हुआ कि शत्रुओं की सेना बहुत ही विशाल है। उस समय ७०

हज़ार हथियारबन्द मुसलमान-सेना तैयार थी। परन्तु मरहठों ने उनकी संख्या पर कुछ भी ध्यान न दिया, और घमसान की लड़ाइयां छिड़ गईं जिनमें बड़ी निर्दयता के साथ पठान और रुहेले काटे गये। तत्पश्चात् क़िले-पर-क़िला, शहर-पर-शहर शत्रुओं के हाथ से छीनते गये और सारे द्वाबे को पठानों से साफ कर दिया। और आगे बढ़कर रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया और रुहेलों का भी—पठानों की तरह बड़ी निर्दयता से नाश कर दिया। मृत्यु ने नजीबखां को मरहठों की क्रोधाग्नि से बचा लिया था, लेकिन उसका पुत्र जबेथखां अभी तक अपने पिता के तथा अपने पापों का प्रायश्चित् करने को बचा हुआ था। उसने शुक्रताल के किले की अभेद्य दीवारों के पीछे शरण ली। मरहठों ने सीधा क़िले पर आक्रमण किया और उस पर भयंकर गोलाबारी करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने किले के भीतर के सैनिक विभाग को ऐसे नष्ट किया कि जबेथखां उसकी रक्षा करने में असमर्थ हुआ। अन्त को एक रात वह चुपके से भाग निकला और गंगा को पार करके बिजनौर पहुँच गया। यह समाचार पाकर मरहठों को बदला लेने वाली सेना भी बिजनौर की ओर चल पड़ी और गंगा को पार करती हुई बिजनौर पहुंची। यहां पर जबेथखां के किले की रक्षा के लिये तोपखाने नियुक्त थे। ये तोपखाने मरहठों पर गोलियां बरसाने लगे परन्तु मरहठों ने तोपखाने पर अधिकार कर लिया और दोनों शक्तिशाली सेनाओं को, जो उन्हें रोकने का प्रयत्न कर रही थीं, परास्त किया और हजारों रुहेलों को मौत के पार उतारते हुए बिजनौर में जा घुसे। सारा ज़िला उनके घोड़ों की टापों से कुचला जाने लगा। जबेथखां भाग कर नजीबगढ़ पहुंचा। मरहठों ने वहां तक उसका पीछा किया और फतेहगढ़ पर भी अधिकार कर लिया। वहां पर उन्हें अपार प्रसन्नता हुई, क्योंकि मरहठों का जो सामान पानीपत की लड़ाई में पठान और रुहेलों के हाथ चला गया था, वह सब अब पुनः विजयी मरहठों के हाथ आ गया। अब उनको पूर्णरूप से विजय प्राप्त हो गई थी। जबेथखां की स्त्री और बच्चों को भी मरहठों ने पकड़ लिया।

जैसा पाशविक अत्याचार निर्दयी रुहेलों द्वारा मरहठे स्त्रियों और बच्चों पर पानीपत के मैदान में किया गया था, यदि उसी प्रकार की निर्दयता और अत्याचार मरहठे नजीबखां और जबेथखां के परिवार के साथ करते तो अन्याय नहीं कहा जा सकता था; किन्तु शान्ति-प्रिय हिन्दुओं के परम्परागत नियम के अनुसार मरहठे न तो किसी के धर्म को छुड़ाते थे और न उनको अपने खेमे में लाकर क़त्ल ही करते थे। हिन्दू-वीरों ने यद्यपि इस राक्षसी कार्य पर कभी हाथ नहीं उठाया, फिर भी उनका डर सारे रुहेलों और पठानों के दिल में ऐसा बैठ गया था कि मरहठा अश्वारोही को देखते ही सारा गांव का गांव ही घर छोड़ कर भागना प्रारम्भ कर देता था। रुहेलों के जो सेनापति जीवित रहे, तराई के घने जङ्गलों में भाग गये। वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने के कारण ही वे प्रति-हिंसा-ज्वाला से बचे रहे अन्यथा उन्हें भी मृत्यु का आस्वादन करा दिया जाता। इस प्रकार मरहठों ने पानीपत की हार का व्याज-सहित शत्रुओं से बदला लिया।

धर्म-ध्वजा को तराई के वनों की सीमा तक पहुँचा कर तथा अपने शत्रुओं को भयभीत करके मरहठे पीछे लौटे। सन् १७७१ ई० में मरहठों की सेना दिल्ली को वापिस लौट पड़ी। वहां पर महाराष्ट्र के राजनैतिक पुरुष अपने अपने सेनापतियों के विजय का लाभ पहिले से हीं उठा रहे थे और शाहआलम को, जोकि मुगल साम्राज्य का उत्तराधिकारी था—अपने हाथ में लेकर भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति प्राप्त करने के जो-जो उपाय अंग्रेज़ों और शुजा ने मिलकर सोचे थे, उन्हें निष्फल कर दिया। उन्होंने शाह आलम को विवश किया कि वह हिन्दुस्तान के राज्य चलाने तथा रक्षा करने के अधिकार तथा उत्तरदायित्व का सारा भार मरहठों के हवाले कर दे। इसके बदले में उन्होंने उसे हिन्दुस्तान का नाम-मात्र का सम्राट् मानना स्वीकार कर लिया। उसे नाम-मात्र का सम्राट् मानने के लिए भी मरहठे तब तक तैयार न हुये जब तक

वह पानीपत की लड़ाई के दिन से आज तक की शेष चौथ अदा करने और नये विजित राज्य को बराबर-बराबर बाँट लेने के लिये सहमत न हुआ। यद्यपि यह कार्य एक बार सन् १७६१ ई० में हो चुका था लेकिन सन् १७७१ ई० में पूर्ण रीति से हो गया। रुहेले और पठानों की इस भयानक हार के पश्चात् मुसलमानों का कोई ऐसा राज्य न रह गया जो हिन्दुओं के सारे हिन्दुस्तान के महाराज होने के विरुद्ध आवाज़ उठाता। मानो उसी साल मुसलमानों की स्वतन्त्रता, शक्ति और सारी इच्छाओं का अन्तिम संस्कार हो गया हो। मुग़ल, तुर्क, अफ़गान, पठान, रुहेले, फारसी तथा उत्तरी और दक्षिणी मुसलमानों के सारे सम्प्रदायों ने लड़ कर बदला लेने वाले हिन्दुओं के हाथ से मुसलमानी राज्य को छुड़ाने का प्रयत्न किया, लेकिन मरहठों ने उनके सभी प्रयत्नों को निष्फल कर दिया। इस प्रकार उन्होंने भारत साम्राज्य के संरक्षक के शाही अधिकार को ५० वर्ष से अधिक अपने हाथों में रक्खा तथा जो इसके लिए लड़ा उसे नीचा दिखाया। सन् १७७१ ई० के बाद मुसलमानों की शक्ति भारतबर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में न रही। इस प्रकार हिन्दुओं ने उनकी शक्ति का अन्त करके अटक से समुद्र तक फिर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। अब केवल एक ही दावेदार था, जिसके विरुद्ध उन्हें संघर्ष और लड़ाई करनी थी। वह दावेदार मुसलमान नहीं था, पर वह ऐसा था जिसका कि स्वभाव, ढङ्ग और मानसिक शक्ति मुसलमानों से बिलकुल भिन्न थी। वह था—अंग्रेज़।

यदि मरहठों की दो सेनाओं के महाराष्ट्र से उत्तर में चले जाने के पश्चात् शूरवीर हैदरअली अपने भाग्य को पुनः आज़माने के लिए न उठा होता और मरहठों के प्रभुत्व को दक्षिण में अस्वीकार न करता तो यह एक बड़ी अद्भुत बात हुई होती। माधोराव तुङ्गभद्रा नदी को पार करता हुआ एक शक्तिशाली सेना के साथ दुर्ग के पीछे दुर्ग जीतता और शत्रुओं को हर जगह हराता हुआ बढ़ता गया। एक दूसरी सेना हैदरअली को

भयभीत करने के लिए जब कि वह अनावदी के जङ्गलों में घुस गया स्थापित की गई। एक रात जब यह सेना मट्टू के पास खेमा डाले पड़ी थी, हैदरअली अपने बीस हज़ार चुने वीरों के साथ जङ्गल से निकल पड़ा और शेर की भाँति अचानक मरहठा-सेना पर टूट पड़ा। किन्तु सौभाग्य-वश हैदरअली की तोप की पहली ही गरज पर मरहठा सेनापति गोपालराव जाग उठा। उसने तत्काल ही खतरे को ताड़ लिया। उसने सोचा कि यदि मैं तनिक भी हिचकूंगा तथा दुर्वलता प्रकट करूंगा तो सारी सेना जगने के पहले ही मार डाली जायगी। वह अपने घोड़े पर कूद कर सवार हो गया और अपने झण्डे को लहराते हुए अपनी जगह पर खड़े होकर आज्ञा दी कि खतरे का डङ्का बजाओ। इस भयानक शब्द को सुनकर सारे सिपाही उठ बैठे और बिछौनों को छोड़कर रण-क्षेत्र में आ डटे। अब शत्रुओं की भयङ्कर अग्नि भड़की, घमासान की लड़ाई होने लगी। घुड़सवार सैनिक घायल हो होकर पृथ्वी पर गिरने लगे। हैदर-अली की तोपों की गरज और उसके गोलों की बाढ़ ने मरहठों को पीछे हटा दिया, लेकिन गोपालराव निर्भयतापूर्वक अपनी जगह पर डटा रहा और ललकारता हुआ अपना झण्डा फहराता रहा। लड़ाई के खतरे वाला डङ्का अब तक बज रहा था। सेनापति का सहायक पास ही खड़ा था। एक तोप का गोला लगा और उसका सिर टुकड़े २ हो गया। लोहू फुहारे की भांति निकलने लगा जिससे मरहठा सेनापति लोहू से भीग गया। फिर परशुराम भाऊ घोड़े पर सवार हुआ और अपने स्थान पर डट गया। उसके घोड़े को एक गोली लगी और वह मर गया, तब वह दूसरे घोड़े पर चढ़ा। ज्यों ही उस पर गया, त्यों ही वह घोड़ा भी तोप का गोला लगने से मर गया। इस पर सेनापति चंचल हो उठा। वह फिर तीसरे घोड़े पर चढ़ा और मृत्यु के मुँह में खड़ा रहा। यदि वह भय और घबराहट से ज़रा भी पीछे हटता तो शत्रु अचानक आक्रमण कर देते और सारी सेना विजयी शत्रुओं के हाथ में फंस जाती, किन्तु सेना-पति के साहस को देखकर सारी सेना में फिर साहस आ गया। मरहठों

की सारी सेना—सेनापति से लेकर सिपाही तक—शत्रुओं की सेना के सामने लोहे की दीवार की तरह खड़ी रही। जब हैदरअली समीप आया तो मरहठों के अजेय साहस को देखकर हक्का-बक्का हो गया और जिधर से आया था उसी ओर शीघ्र लौट गया। युद्ध जारी रहा।

पेठे, पटवर्धन, पान्से और दूसरे मरहठा-सेनापति हैदरअली का पीछा जगह-जगह पर करते रहे और मोती तालाब पर उसे अपने हाथों में करके उसकी सारी सेना काट डाली और उसका खेमा, उसके हथियार तथा अनेकों युद्ध सामग्री अपने हाथों में कर ली। मरहठों की इस बार प्रबल इच्छा थी कि हैदरअली के नाम को राजनैतिक क्षेत्र से मिटा दें, किन्तु ठीक उसी समय उन्हें पूना से एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि पेशवा बहुत बीमार पड़ा हुआ है, लड़ाई बन्द करके राजधानी में चले आओ। मरहठा सेनापति ने इस पत्र के कारण विवश हैदरअली से सुलह कर ली, जिसके अनुसार हैदरअली ने मरहठा-स्वराज के सारे प्रान्तों को लौटाया और लड़ाई के व्यय के अतिरिक्त ५० हज़ार रुपये उपहार रूप में और दिये।

जिसके सुयोग्य नेतृत्व में मरहठों ने शत्रुओं से पानीपत के अत्याचारों का बदला लिया, जिससे अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा को पहले की भांति उच्चतम शिखिर पर चढ़ाया, उस नेताकी बीमारी का समाचार ऐसी शानदार घटनाओं के होने के समय दिल्ली से लेकर मैसूर तक की सारी मरहठा छावनियों में पहुँचा और हर एक व्यक्ति ने इसे परमात्मा की कुदृष्टि समझा। माधोराव की केवल सैनिक वीरता के अपूर्व गुणों ने ही उसे इतना सर्वप्रिय नहीं बनाया था, किन्तु उसका नागरिक-शासन भी न्यायपूर्ण और पक्षपातरहित था, वह राजा से लेकर रंक तक अपनी सम्पूर्ण प्रजा की भलाई विशुद्धात्मा से से करता था और वह इतना गंभीर, सत्यवादी और न्यायप्रिय था कि उसकी नीच से नीच प्रजा को भी उनके प्रति भक्ति और प्रेम हो

गया था, शक्तिशाली पुरुषों को उसकी सत्यता और न्यायपरायणता का भय बना रहता था। दीन व दुःखी किसानों को उससे रक्षा का पूर्ण भरोसा था। यद्यपि घरेलू झगड़े और नाशकारी पारिवारिक युद्ध उसके स्वार्थी और मूर्ख चचा के कारण चल रहा था, तो भी दस वर्ष के भीतर ही भीतर इसने अपनी जाति के ऊपर से पानीपत के कलंक को मिटा दिया और अपने शक्तिशाली भुजबल द्वारा शत्रुओं को, जिन्हों ने हिन्दू-स्वतंत्रता और हिन्दू-पद्-पादशाही के विरोध में हाथ उठाये थे, हराकर कुचल डाला। जब कि वह बिल्कुल जवानी की उमंगों से भरा हुआ था उसी समय वह अपने सौभाग्य और लोकप्रियता के के शिखर पर चढ़ा हुआ था। जाति उस पर यह आशा लगाए बैठी थी कि वे अपने पिता से बढ़कर गौरवशाली कार्य करेगा। केवल २७ वर्ष की अल्पायु में माधोराव क्षय रोग से ग्रस्त हो गए। वह महलों में बीमार पड़ा था किन्तु फिर भी उसने अपने कुढङ्गी चचा को, जो इस समय भी निजाम से मिल कर षडयन्त्र रच रहा था, प्रसन्न करने का बड़ा प्रयत्न किया। उसने रघुनाथ को सब कार्य सौंप दिया और अपने राज्यवैद्य से अनुरोध किया कि मुझे ऐसी दवा दो कि मैं मरते समय भी मूर्च्छित न होऊँ और मुझ में बोलने की शक्ति वर्तमान रहे ताकि मैं प्राण त्यागते समय भी परमात्मा की प्रार्थना कर सकूं। जब पेशवा की असाध्य बीमारी का समाचार उसके दूर-दूर के राज्यों में पहुँचा तो उसकी प्यारी प्रजा चारों तरफ से पूना में अपने जातीय शूरवीर और जातीय पिता को अन्तिम दर्शन को आने लगी। उसने आज्ञा दी कि राजमहल का फाटक खोल दो और प्रजा में से किसी दीन मनुष्य तक को भी मेरे पास आने से न रोका जाय। सन् १७७२ ई० में कार्तिक बदी अष्टमी को उदार राजकुमार ने विद्वान् और सतपुरुषों को अपने पास बुलाया। उनकी ओर सिर झुका कर, और जो लोग उसे देवतातुल्य समझ कर घेरे हुए पड़े हुए थे, उनकी तरफ मुँह करके उनसे अन्तिम विदा मांगी।

उसने कहा—"अब मैं आप लोगों से पृथक होता हूं और अपनी अन्तिम महान तीर्थ यात्रा के लिये प्रस्थान करता हूं और आप लोगों को अन्तिम विदा का नमस्कार करता हूँ"। इस प्रकार राजकुमार ने सबके बीच परमात्मा का नाम लेते हुए योगियों की भांति गजानन-गजानन कहते हुए इस असार संसार को छोड़ा। राजमहल के लोगों में हाहाकार मच गया और सब लोग रोने पीटने पीटने लगे। उसकी युवा स्त्री रमाबाई, जिसके अभी तक कोई संतान न हुई थी, अपने सारे आभूषणों तथा जवाहिरात को साधुओं, ब्राह्मण और दीन दुःखियों को दान करके, अपने सम्बन्धियों के दबाव और प्रार्थना की कुछ परवाह न करके अपने प्यारे प्रियतम की चिता पर बैठ गई। प्रज्वलित ज्वालाओं में अपनी आहुति डालकर उसने अपनी आत्मा की मशाल को जला लिया और उसके प्रकाश से अमर प्रेम और स्वर्गीय सौंदर्य के रहस्यों का उद्घटन करके यह भी बता दिया कि वे इस समय भी मनुष्य द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। अब भी लोग महाराष्ट्र में महाराज माधोराव और सती रमाबाई का वर्णन करके आंसुओं द्वारा उनके प्रति अपना प्रेम और श्रद्धा प्रकट करते हैं। वर्तमान समय में भी राष्ट्रीय कवि उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कवितायें बना बना कर विलाप करते हैं और कहा करते हैं कि—

"हमारे जीवन की ज्योति निकल गई और हमारे हृदय का रत्न खो गय ।।"

१८

गृह-कलह और सर्व-प्रिय क्रान्ति

"इग्रजानां खडे चारिले नाहीं लागु दिला थारा
भले बुद्धिचे सागर नाना ऐसे नाहिं होणार"*

सारी जाति के आशास्वरुप माधोराव का युवावस्था में मर

---

*फिरंगियों को उसने पत्थर खिलाये और अपने मन की बातों को उन पर प्रकट नहीं होने दिया। बुद्धि के सागर नाना फड़नवीस के समान व्यक्ति पैदा होने अब बड़े मुश्किल हैं।

जाना और राघोबा जैसे कलंकित व्यक्ति का उनके पीछे एक पीढ़ी तक जीवित रहना ऐसी घटनाओं में से हैं जिन्हें देखकर कभी कभी मनुष्य संशय में पड़ जाता है कि वास्तव में परमात्मा सर्वशक्तिमान् है भी या नहीं।

माधोराव की अकाल मृत्यु जाति के लिये एक बड़ा दुर्भाग्य था, पर राघोबा का जीवित रहना तो उससे कहीं आपत्तिप्रद था। ज्योंही निःसन्तान माधोराव की जगह पर, उनकी और जाति की इच्छानुसार, उनका छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा त्योंही रघुनाथराव उसके और उसके सहायकों के विरुद्ध एक नवीन हत्याकाण्ड का षडयन्त्र रचने लगा। उसने महल के पहरेदारों को रिशवत देकर अपने पक्ष में कर लिया और उन्हें आज्ञा दी कि नये पेशवा को घेर कर पकड़ लो। पर इस उपाय को उसकी पिशाचिनी स्त्री आनन्दीबाई ने पलटकर पहरेदारों को उभारा और कहा कि पकड़ने के बजाय मार डालो। ३० अगस्त सन् १७७३ में सिपाही विद्रोही हो गए और नारायणराव से वेतन मांगते हुए असभ्यता-पूर्वक शोर मचाने लग गए। उस समय पेशवा के एक सच्चे सेवक ने उन बलवाइयों को उनके इस प्रकार के नीच कार्य्य पर धिक्कारा। इस पर उन्हों ने क्रोधित होकर तलवार खीचली और उस स्वामिभक्त को उसी समय मार डाला। डरा हुआ पेशवा अकेला अपनी जान बचाने के लिये एक कमरे से दूसरे कमरे में भागने लगा और हत्यारे उसका पीछा करते रहे। अन्त में वह अपने चचा राघोवा के कमरे में पहुचा और व्याकुल होकर चचा की कमर से लिपट गया और गिड़गिड़ा कर बड़े आर्त्तस्वर से कहने लगा, "चचा ! चचा !! मैं आपका लड़का हूं। मुझ अनाथ को प्राण-दान देकर कृतार्थ कीजिये। मैं आप ही को पेशवा स्वीकार करता हूं और जो रोटी का टुकड़ा आप मुझे देंगे उसके अतिरिक्त किसी वस्तु की मांग न करूंगा, उसी पर अपना जीवन-निर्वाह सुखपूर्वक करूंगा।" पर हत्यारे बलवाई जो उसका पीछा करते आते थे वहां भी पहुँच गये। राघोवा ने नारायणराव को अपने बदन से छुड़ा कर परे कर दिया और

हत्यारे उस पर टूट पड़े। चाफाजी तिलेकर, पेशवा और बलवाइयों की तलवार के बीच खड़े हो गए और बच्चे को ढाँप लिया और इन पहरेदारों से अपने स्वामी के जीवन-दान के लिये प्रार्थना की; पर सब अरण्य-रोदन के समान निष्फल हुआ। अन्त में हत्यारों ने पेशवा तथा उसके रक्षक चाफाजी पर अपनी तलवार चलाना प्रारम्भ किया। पेशवा की मृत्यु निश्चित थी; उसकी आयु समाप्त हो चुकी थी। इस पर किसी का क्या वश चल सकता था। यद्यपि चाफाजी ढाल बन कर पेशवा की रक्षा के लिए अनेकों प्रयत्न किये पर सब निष्फल हुए और अन्त में अपना प्राण अपने स्वामी के साथ देकर उसने लोगों को स्वामि-भक्ति का अपूर्व आदर्श बताया। पेशवा को मार डालने के बाद बलवाइयों ने राघोवा को अपना पेशवा मशहूर करके महल को अपने अधिकार में ले लिया।

यह समाचार बिजली की भांति सारी राजधानी में फैल गया। वहां के निवासी क्रोधित होकर दल-के-दल बनाने लगे और सब ने एक-मत होकर शपथ ली कि वे लोग नीच हत्यारे राघोवा को अपना पेशवा स्वीकार न करेंगे। महाराष्ट्र में अभी तक आत्म-सम्मान तथा आत्मिक जीवन का भाव बना हुआ था, अतः भयानक प्रासाद-षड्यन्त्र से डर कर वे लोग उसका, जिसको कि उन्होंने अपना अधिनायक या स्वामी न चुना हो, आधिपत्य स्वीकार करने के लिये तैयार न थे, इसलिए नेता तथा राज्य के प्रमुख लोगों ने राज्य-परिवर्तन के लिये एक गुप्तसभा स्थापित की और राज्य के प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री के पास पेशवा की हत्या का अभियोग चलाने की प्रार्थना की। रामशास्त्री को शीघ्र ही निश्चय हो गया कि राघोवा और उसकी स्त्री आनन्दीबाई ने मिलकर ही यह नीच कर्म किया है तथा उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि इस नवयुवक पेशवा की हत्या का मूल कारण ये ही लोग हैं। वह निर्भीक ब्राह्मण सीधे उस महल में चला गया, जहाँ राघोवा अपने सपक्षियों द्वारा सुरक्षित बैठा था। उसने उसके मुंह पर साफ २ कह दिया कि अपने भतीजे अर्थात् राष्ट्र के नये पेशवा की हत्या करने वाले आप ही हैं। राघोवा ने अपराध

स्वीकार करते हुए कहा—मुझे इस अपराध का प्रायश्चित्त बताइये। राम-शास्त्री ने कहा—इस महापाप के लिये आपको अवश्य प्रायश्चित्त करना पड़ेगा और ऐसे नीच कर्म के लिए सिवाय प्राणदण्ड के और कोई प्रायश्चित्त नहीं। इस पर राघोबा के साथियों में से किसी ने कहा कि आप ऐसा न कहें। रामशास्त्री ने पुनः गम्भीर स्वर से कहा, "मुझे किसी राघोबा का भय नहीं है, मैं प्रजा का न्यायाधीश हूँ. इसलिए मैंने अपना उचित कर्त्तव्य पालन किया है। यदि राघोबा चाहे तो मुझे भी मारकर अपने पाप में वृद्धि कर ले। मैं ऐसे राज्य में एक क्षण भी न रहूँगा और न अन्न-जल ग्रहण करूंगा, जिस पर ऐसे अन्यायी राजा राज्य करते हैं।" इस प्रकार क्रोधाग्नि से जलता हुआ निःशङ्क ब्राह्मण महल से बाहर निकला, शहर छोड़ दिया और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तब तक अन्न-जल ग्रहण न किया जब तक पवित्र कृष्णानदी के तट पर न पहुंच गया। रघुनाथराव अवाक् सा देखता रह गया उसके मुख से एक शब्द भी न निकल सका। पर अपने साथियों के सामने इन सारी बातों से उसे पूर्ण अनुभव हो गया कि वास्तव में पाप का फल बुरा होता है।

ठीक उसी समय यह बात सब को विदित हो गई कि मृत पेशवा नारायणराव की विधवा स्त्री गर्भवती है और उसे अवश्य कोई सन्तान-रत्न पैदा होगी। इस समाचार को पाकर राजपरिवर्त्तन करने वाली सभा की शक्ति और भी बढ़ गई तथा भावी सुख की आशालता लहलहाने लगी

इसके पश्चात् मोरोबा दादा, कृष्णराव हरिवन्त फाडके त्र्यम्बकराव मामा, काले, तोपखाने के सरदार रास्ते पटवर्धन, धायगुडे, नैरो अप्पाजी आदि और भी दूसरे राजकर्मचारियों ने नाना फड़नवीस तथा सखाराम बापू जैसे महान् नेताओं की अध्यक्षता में प्रथम यह निश्चित किया कि पहले तो राघोबा को लड़ाई में ले चलें और पीछे राजद्रोह कर दें। इस प्रकार सब ने विचार निश्चित कर रघुनाथराव को शीघ्र ही दक्खिन पर चढ़ाई करने के लए विवश किया। ज्योंही रघुनाथ ने दक्षिण

के लिए कूच किया, त्योंही इन लोगों ने अवसर पाकर पूना में विद्रोह कर दिया, और राजधानी को अपने अधिकार में ले लिया और भावी पेशवा की माता गङ्गाबाई को राजनेत्री ठहराया। वह राज्य-विप्लव शीघ्र ही सारे देश में फैल गया। इस नये राज्यशासन को, जो वास्तव में प्रजातन्त्र-राज्य था और जिसे महाराष्ट्र में "बड़ा भाई राज" कहते हैं सारे दुर्गों और नगरों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब इस आश्चर्य-जनक विद्रोह का समाचार राघोबा को मिला तो उसने अपनी सारी सेना के साथ पूना को लौट चलने का विचार किया; लेकिन जब उसे यह बात विदित हुई कि बलवाइयों की सेना उससे सामना करने के लिए पहले ही पूना से रवाना हो चुकी है तो भयभीत होकर कुछ स्वार्थी, घूसखोर तथा चापलूस साथियों के साथ उत्तर की ओर चला गया और रास्ते के गांवों और शहरों को विदेशीय लुटेरों की तरह लूटता-पीटता और जलाता हुआ आगे बढ़ता गया। उसे अब भी यह आशा बनी हुई थी कि यदि गङ्गा-बाई को पुत्र न पैदा हुआ तो सभी लोग पुनः उसके पक्षपाती हो जायंगे। उसने कोरेगांव में विद्रोहियों की सेना का सामना करके उसे परास्त किया और उनके सेनापति त्र्यम्बकराव मामापेठे को मार डाला। पेठे की मृत्यु से विद्रोहियों को बड़ी क्षति हुई, क्योंकि उनका एक वीर एवं कट्टर नेता मारा गया। इतने पर भी प्रसिद्ध नेता नाना फड़नवीस और बापू ने महाराष्ट्र जाति की सहायता पाकर लड़ाई बराबर जारी रक्खी।

इस समय सारे महाराष्ट्र, नहीं नहीं सारे भारतवर्ष के सभी लोगों का ध्यान पुरन्धर के क़िले की ओर लगा हुआ था, जहां गर्भवती राज-कुमारी गङ्गाबाई बड़े पहरे में रक्खी गई थी। ज्यों ज्यों इनका प्रसव-काल निकट आता जाता त्यों त्यों लोगों की उत्सुकता बढ़ती जाती थी। सभी लोग सर्वदा पुरन्धर के नवीन सुखदायक समाचार सुनने के लिए लालायित हो रहे थे, मन्दिरों, देवालयों और तीर्थ-स्थानों में धार्मिक जन-समूह ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि महारानी जी को पुत्र-रत्न पैदा

हो और राघोबा की नीच आशा और अभिलाषा पर वज्रपात हो। झोंपड़ियों से लेकर राजभवनों तक के रहने वाले सर्वदा पुरन्धर के शुभ समाचार सुनने के लिये कान खड़े रखते थे और अपनी शुभाशा की चिन्तना में सर्वदा निमग्न रहते थे। इतना ही नहीं, दिल्ली, इन्दौर, ग्वालियर, बड़ौदा, हैदराबाद, मैसूर,तथा कलकत्ता आदि भारत के प्रधान राजनैतिक केन्द्रों के लोग भी पुरन्धर के समाचार के लिये उत्सुक रहते थे। अन्त में १८ अप्रैल सन् १७७४ ई० को सारे भारतवर्ष में यह समाचार पहुंचा कि गङ्गाबाई ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया है। सारे महाराष्ट्र ने इस प्रसव पर परमात्मा का धन्यवाद किया और इस शिशु को अपना नेता माना तथा उसे अपने राज्य के लिये ईश्वर द्वारा भेजा हुआ मन्त्री समझा। दूसरे देश के राज्यों ने भी, जनता के उत्साह से उत्साहित होकर, उस दुध-मुंहे बच्चे को बधाइयां भेजीं। सारे महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों को इस समाचार से सब से अधिक सान्त्वना मिली। उस समय के पत्र-व्यवहार तथा लिखित प्रमाणों से उनकी देशभक्ति-पूर्ण आशाओं और अभिलाषाओं का भली भांति परिचय मिलता है। साबाजी भोंसला अपगी छावनी से लिखता है—"ज्यों ही हमारे यहां राजकुमार के जन्म का समाचार पहुंचा, मानो उसी समय हमारे लिए सुख-संसार की सृष्टि हो गई। सचमुच परमात्मा ने हमारी प्रार्थनाओं को सुना। सारी सेना प्रसन्न है, मारू बाजे बज रहे हैं। तोपों की गरज बादशाह को सलामी दे रही है। परमात्मा हमारे पेशवा को दीर्घायु बनायें।" यह समाचार जहां कहीं क्रान्तिकारियों के पास पहुंचा वे बड़ी प्रसन्नता मनाने लगे। एक पत्र में ये शब्द लिखे मिलते हैं—"हरीपन्त सेनापति ने शीघ्र आज्ञा दी कि सारी सेना में उत्सव मनाओं। लड़ाई के बाजों, शहनाइयों और तोपों की घड़घड़ाहट के कारण मनुष्यों का एक शब्द भी नहीं सुन पड़ता था। इस शुभोत्सव को मनाने के लिये हाथी के हौदों से लोगों को मिठाई

बांटी गई।" एक दूसरे पत्र में यह लिखा मिलता है—"इसमें कोई शंका नहीं कि परमात्मा हमारे अनुकूल है हिन्दू धर्म की रक्षा और वृद्धि के लिये उसने पेशवा को पैदा किया है—शिशु पेशवा दीर्घायु हो ! हमारी जाति की आंखों का तारा चिरञ्जीव हो !"

इस लड़के का नाम माधोराओ रक्खा गया, क्योंकि लोग इस नाम को बड़ी श्रद्धा और भक्ति से लिया करते थे । किन्तु थोड़े ही दिनों के पश्चात् लोगों ने इसे "सवाई (महान) माधोराओ" कहना प्रारम्भ कर दिया। इनके जन्म के कारण पूना स्थित राज्य-क्रांतिकारियों की शक्ति प्रबल हो गई और भारतवर्ष के राजनैतिक कार्यों की काया पलट गई। ये लोग अब विशेष साहस और उत्साह से कार्य करने लगे और उन्होंने मरहठे सरदारों को आज्ञा दी कि राघोवा मृत्यु दण्ड का भागी ; इसलिये उसका पीछा करो और जहां कहीं मिले, पकड़ लो। ऐसा हो जाने पर वे लोग जो हिन्दू-पद-पादशाही की परम्परा के अनुसार भाऊ और नानासाहब की अध्यक्षता में शिक्षित हुए थे और जो मरहठों द्वारा प्राप्त गौरवशाली भारत के सब से महान हिन्दूराज्य के पदको संभालने की योग्यता रखते थे, इस योग्य हो गये कि शासन की बागडोर अपने हाथ में रक्खें और अपनी जाति को इस परम कर्त्तव्य पर और अधिक आरूढ़ रखें । यदि ऐसा न हुआ होता तो राज्य का प्रबन्ध उस व्यक्ति के हाथ में चला गया होता जो अपनी स्त्री को भी अपने वश में न कर सकता था। किन्तु नारायण के जिस लड़के की पैदायश के समाचार का स्वागत सारे महाराष्ट्र ने बड़ी धूम-धाम से किया था और जिस दुधमुँहे राजकुमार को लोगों ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने राज्य का भावी पेशवा स्वीकार किया था, उसी राजकुमार को एक नीच प्रकृति वाले पुरुष ने घृणा की दृष्टि से देखा। जितनी तीव्रता से उसका पीछा क्रांतिकारी और उसका दुर्भाग्य कर रहे थे उतनी ही तीव्रता से राघोवा एक भयभीत सांड की तरह

पागल होकर बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। अन्त में राघोबा को उसके साथियों ने भी छोड़ दिया और उसे अपनी जाति द्वारा ही पराजित होना पड़ा। इसके पश्चात् वह निर्लज्ज बिना किसी हिचकिचाहट के अपनी जाति के सब से कुटिल शत्रु की शरण में चला गया।

सारी जातियों और रियासतों में से से, जिनकी इच्छा अब भी भारतवर्ष में प्रधान शक्तिशाली बनने की थी, किसी ने भी मरहठों को सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानने से इन्कार नहीं किया। जब तक सारा महाराष्ट्र इस महान् हिन्दूसाम्राज्य के अन्तर्गत संगठित होकर काम करता रहा, तब तक जिस किसी ने मरहठों को ललकारा, वह या तो बिल्कुल नष्ट कर दिया गया या उसको ऐसा नाचा दिखा कर दबाया गया कि वह क्रोध से भरा हुआ जमीन पर पड़ कर धूल चाटने लगा, अर्थात मरहठों की पराधीनता में भलीभांति जकड़ दिया गया। मुसलमान—चाहे वे पठान, फारसी, मुगल या तुर्क थे अथवा वे सिंध पार के या भारतवर्ष के रहने वाले थे—ऐसे कुचल दिये गये कि उन्होंने पीछे फिर कभी हिन्दूराज्य के सामने सिर न उठाया। वे अब भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र से एक प्रकार से मिटा दिये गये थे। प्रतिद्वन्दी शक्तियों में एक पुर्तगेजों की शक्ति थी जिसने एक बार अपना प्रभाव अर्द्ध एशिया के ऊपर जमा लिया था। अब वह भी महाराष्ट्र शक्ति द्वारा अध:पतन की दशा को प्राप्त हो गई थी, क्योंकि पुर्तगेज़ कोंकण की स्वतन्त्रता की लड़ाई में इतने निर्बल कर दिये गये थे कि फिर कभी अपनी पूर्व शक्ति न प्राप्त कर सके। फ्रेंचों ने भी कभी मरहठों का खुली तौर पर सामना करने का साहस न किया। यद्यपि उन्होंने कई बार हैदराबाद और अरकाट द्वारा पूना पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न किया, किन्तु हर बार असफल होते रहे। इसके दो कारण थे, प्रथम यह कि यूरुप में उनका दूसरों के साथ युद्ध हो रहा था, जिस के कारण वे भारत में हिन्दू साम्राज्य के मार्ग में कंटक नहीं बनना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि वे भलीभांति जानते थे कि यही एक शक्ति है जो उनके प्रतिद्वंदी अंग्रेजों की नीच इच्छा को पूरी न होने देगी। अंग्रेजों

को भी भलीभांति ज्ञात था कि यदि हम पश्चिमी समुद्र तट पर शिवाजी के समय से शान्तिपूर्वक आबाद हैं, तो इसलिये नहीं कि मरहठे हमसे प्रसन्न हैं या हमारा यहां पर रहना उन्हें पसन्द है, वरन् हम यहां शांति पूर्वक इसलिये पड़े हुए हैं कि इस समय मरहठे अपने शक्तिशाली शत्रुओं से लड़ने में उत्तरी भारतवर्ष में लगे हुए हैं और हमें एक साधारण शत्रु समझ कर इस समय कुछ ध्यान नहीं देते हैं। जिस समय हम सिर उठायेंगे, वे अवश्य हमारा सत्यानाश कर देंगे। इस के साथ ही अंग्रेज अपनी सूक्ष्म राजनैतिक अंतर्दृष्टि द्वारा यह भी भलीभांति समझते थे कि उन के अधीन जो बम्बई का प्रदेश है उसका कारण यह नहीं है कि वे मरहठों के गढ़ में उस पर अपना अधिपत्य रख सकते थे पर इसका एकमात्र कारण ये है कि मरहठे दूसरे स्थानों पर लड़ाई में उलझे होने के कारण इस ओर ध्यान नहीं देते।

इसलिये वे भी हर समय मरहठों को हानि पहुँचाने की इच्छा करते हुये भी डर के मारे उनसे छेड़छाड़ नहीं करते थे। आंगरे की शक्ति को नष्ट करने के लिये नानासाहब उनकी शक्ति को काम में लाये थे, परन्तु वह भी इस शर्त पर कि इस कार्य द्वारा समस्त मरहठा जाति को किसी प्रकार से भी सैनिक अथवा सामुद्रिक हानि पहुँचने की संभावना न हो। यदि ईश्वर की इच्छा प्रतिकूल न हुई होती, जिसकी कि किसी भी मरहठा व्यक्ति को आशा न थी—आंगरे के सत्यानाश के पश्चात् मरहठों की जलसेना भी बड़ी शक्तिशाली हो गई होती।

इतना होते हुये भी अंग्रेज़ों को कम से कम पश्चिमी किनारे पर भी कुछ विशेष लाभ प्राप्त न हुआ। शिवाजी के समय में जो कुछ उनके अधीन था वही उनके अधीन रहा उसमें वे कोई और वृद्धि न कर सके। लेकिन बंगाल में अंग्रेज़ों ने मैदान खुला पाया। क्लाईव के समय में अंग्रेज़ प्रथम बड़े शान्त थे, किन्तु जब विजय प्राप्त करके जगे, तब यदि मरहठे न होते तो उन्होंने अपनी विजयश्री को दिल्ली तक बढ़ा

दिया होता। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि अंग्रेज़ उन सफलताओं के किसी प्रकार अनाधिकारी थे।

एक जाति, जिसे संयोगवश सफलता प्राप्त हुई हो, अथवा उसके शत्रुओं की भीरुता या अयोग्यता ने उसे अपने पराक्रम द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने के लिये उकसाया हो, वह जाति अपनी उस सफलता का प्रयोग कर सकती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे अपने भाग्य के अधिकारी थे। अपने साहस अथवा पराक्रम के कारण ही अंग्रेज़ों ने फ्रांस वालों पर मद्रास में सफलता प्राप्त की थी। इस प्रकार अंग्रेज़ों के भाग्य और साहस ने उन्हें बंगाल और मद्रास में शक्तिशाली बना दिया। उन्होंने मरहठों की प्रभुता को केवल इस भय से कभी अस्वीकार नहीं किया कि इस के कारण मरहठों से शत्रुता खड़ी हो जायगी। लेकिन अंग्रेज़ जो बंगाल और मद्रास में छिपे छिपे प्रभावशाली हो रहे थे, उससे मरहठे भी अनभिज्ञ न थे। नाना साहब और भाऊ समय की नज़ाकत का अनुभव करने वाले, चौकन्ने और दूरदर्शी नीतिज्ञ थे और अपने किसी भी प्रतिद्वंदी को—चाहे वह कितना ही क्षुद्र हो—हिन्दू साम्राज्य की ओर छिपे २ प्रगति करने की खुली छुट्टी नहीं दे सकते थे। अंग्रेजों के अधिकार को बङ्गाल में बढ़ते हुये देख कर ही भाऊ ने सन् १७६० और १७६१ में यह कार्यक्रम बनाया कि दो शक्तिशाली सेनायें बङ्गाल में भेजी जांय, जो विधर्मियों के शासन से दुःखी हिन्दुओं को मुक्त करें। यहां की प्रजा अन्तिम हिन्दू राजा लक्ष्मणसिंह के शासनकाल के पश्चात विधर्मियों द्वारा बहुत सताई जा रही थी।

सन् १७६० ई में मरहठी-सेना का उत्तरी भाग दत्ताजी की अध्यक्षता में इस लड़ाई के लिये चल पड़ा था। लेकिन जैसा कि पहले लिखा गया है, अहमदशाह अब्दाली जैसे भयानक शत्रु के घोर आक्रमण ने मरहठों के बङ्गाल-विजय करने के विचार को स्थगित कर दिया था। इसके पश्चात पानीपत की घटना हुई, और तत्पश्चात् नाना साहब की

मृत्यु हुई। इस तरह मरहठों पर क्रमशः दुःखों के पहाड़ टूटते गये, जिससे अंग्रेज़ों की शक्ति का जीवनकाल बढ़ता गया और उन्होंने ऐसा शुभ अवसर पाकर बड़ी चालाकी और परिश्रम के साथ अपने आप को बङ्गाल और मद्रास में पूर्ण शक्तिशाली बना लिया और अवसर मिलते ही दिल्ली के शासन की बागडोर को मरहठ के हाथ से छीन कर दिल्ली पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने की दृढ़ आशा से तैयारियां करने लग गये। लेकिन पानीपत की हार के पीछे भी उनको मरहठों की शक्ति का व्यक्त रूप से सङ्गठित मुक़ाबला करने का साहस नहीं होता था क्योंकि उस समय भी मरहठे भारत की सब से प्रधान शक्ति थे। थोड़ी सी लाल रङ्ग की रेखा ने, जो भारत के नक्शे में कलकत्ते पर एक बिन्दु रूप में थी, बढ़कर आज आधे बङ्गाल को घेर लिया। छोटा-सा लालरङ्ग का बिन्दु, जो भारत के नक्शे में मद्रास पर था, उसने फैल कर आधी मद्रास प्रेसिडेन्सी को अपनी गोद में छिपा लिया लेकिन जो लाल निशान बम्बई प्रेसिडेन्सी में शिवाजी के काल में था, उतना ही निशान नाना फड़नवीस के समय तक रहा। ये एक इञ्च भी भूमि पश्चिमी समुद्र तट पर अपने राज्यान्तर्गत न ला सके, जब कि दूसरे प्रान्तों में सारी प्रेसीडेन्सी लाल रङ्ग से रङ्ग दी गई। मरहठा सन्तरी सह्याद्रि की चोटी पर पहरा देता हुआ अपने तेज़ भाले से उन लोगों को छेदने के लिये हर समय तैयार था जो उधर पैर रखने का साहस करें। और जब तक मरहठे छिन्न-भिन्न होकर आपस में बट न गये तब तक यूरोपीय या एशिया-देशवासी, या मुसलमान—किसी भी अहिन्दू का साहस नहीं पड़ा कि मरहठों के हिन्दू-साम्राज्य को भारतवर्ष का सर्वोपरि राज्य स्वीकार करने में किसी प्रकार की आनाकानी करे।

यद्यपि इसमें कोई शङ्का नहीं है कि मरहठा जाति की अपेक्षा अंग्रेज़ जाति में वे राष्ट्रीय विशेषताएं अधिक थीं जिनके कारण जनता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को जातीय स्वार्थ की अपेक्षा तुच्छ समझ कर त्याग

देती है और अपनी जाति तथा समाज के प्रति विश्वासघात करने तथा लोभ के कारण अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बेचने को धार्मिक दृष्टि से पाप समझती है इत्यादि। तथापि हमें वर्त्तमान समय को देखकर भूतकाल का बिल्कुल ठीक-ठीक पता चलाने में बहुत कुछ बुद्धिमत्ता से विचार करना चाहिये। बात हो जाने पर प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि आती है। पर यदि हम उन कारणों और स्थितियों पर ध्यान दें, जिनका ठीक अनुभव कार्य पूर्ण होने से पहिले हो जाये, तो वे दो सेनायें जो सुसज्जित होकर लड़ने जा रही हों, उनमें से कौन पराजित और कौन विजयी होगा इस बात को जानने वाले केवल भविष्य-वक्ता ही हो सकते हैं। कोई भी राजनैतिक पुरुष इस विषय में ठीक-ठीक भविष्यवाणी नहीं कर सकता था। जितनी वैज्ञानिक तथा सङ्गठन-शक्ति उस समय अंग्रेजों की थी, वह इतनी बढ़ी-चढ़ी न थी कि मरहठों को भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में सदैव के लिये या बिलकुल अयोग्य ठहरा सकती। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों के लिए स्वाभाविक बड़ी २ कठिनाइयां उपस्थित थीं। यहां तक कि उनको विदेश में लड़ना पड़ता था, जो कि उनकी मातृभूमि और उनके मुख्य युद्ध केन्द्र से कई हज़ार मील दूर था। जापान ने, जिसने कि अपनी कमर एक शताब्दी से कसनी शुरू की थी, अपनी वैज्ञानिक और राजनैतिक शक्ति की बड़ी भारी त्रुटि को आधी ही शताब्दी के भीतर अपने योरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों के मुकाबिले में बहुत अंशों में पूरा कर लिया था। मरहठे भी और बातों में जापानियों के बराबर होने के कारण ऐसे ही सफल हुए होते और विशेषतः जिस समय की बात लिखी जा रही है, उस समय अंग्रेज मरहठों से इतने बढ़े-चढ़े न थे कि वे मरहठों को भारत के प्रधान पद से, जिसके द्वारा उन्होंने उस समय के मुग़ल, अफ़गान, फारसी, पुर्तगीजों और अंग्रेजों का घोर लड़ाइयों में सामना करके परास्त किया था, हटा देते।

अंग्रेज भी भली-भांति इस बात को जानते थे। इसलिए जब तक मरहठे एकता के सूत्र में बंधे रहे उन्होंने कभी भी खुल्लम-खुल्ला

मरहठों के अधिकारों में हस्ताक्षेप करने का साहस नहीं किया। जब मरहठों में परस्पर बैर विरोध पैदा हो गया और गृहकलह का आरम्भ हो गया तब भी अंग्रेजों के अतिरिक्त और किसी का साहस न हुआ कि उनकी शत्रुता की क्रोधाग्नि को जगाए, पर अंग्रेज अपनी सफलता का अवसर समझ कर उनका सामना करने को उद्यत हो गये। बङ्गाल और मद्रास की भूमि में अधिक भोजन करके वे इतने मोटे हो गये कि बम्बई प्रान्त में मरहठों को आपस में लड़ते देखकर वे शीघ्र ही उनसे लड़ने का साहस करने लग गये। यह बात नीच राघोबा को भी अनुभव हुई इसलिये जब वह हार गया और उसके साथियों ने उसका परित्याग कर दिया और उसके देश-वासियों ने उसे निकाल दिया तो उसके सिर पर, प्रजा के उसे न चाहते हुए भी, महाराष्ट्र के ऊपर राज्य करने का भूत सवार हुआ। इसी धुनमें उसने अंग्रेजों की शरण लेने का विचार दृढ़ किया और इस प्रकार वह अपनी जातीय स्वतन्त्रता को, अपने सबसे बड़े शत्रुओं के हाथ बेचने पर तुल गया, और उन्हें अवसर दिया कि वे मरहठों के ही हाथों से, जिन्हें उसने उस समय अपने भाइयों का लहू बहाने को उठाया था, मरहठा-राज्य के दुर्ग की दीवारों को तोड़ दें। अंग्रेजों ने बड़ी उत्सुकता के साथ अपने भाइयों की हत्या करने वाले राघोबा के हाथ को इस शर्त पर पकड़ा कि वह उनको इसके बदले २० से २५ लाख वार्षिक आय वाला प्रदेश देगा। सन्धि हो जाने पर ज्यों ही अंग्रेज़ सेनापति ने खुले दिल से राघोबा को साथ लेकर मरहठों पर आक्रमण कर दिया सालसिट, बसीन और भड़ोच निवासियों ने राघोवा को महाराष्ट्र का पेशवा स्वीकर कर लिया। उसी समय जितने भी छोटे-छोटे राज्य मरहठों के अधीन थे उन्होंने यह समाचार पाकर कि अंग्रेज और मरहठों में युद्ध प्रारम्भ हो गया है, मरहठों के विरुद्ध सारे भारतवर्ष में बग़ावत कर दी। लेकिन नाना फड़नवीस, जो इस समय राज्यक्रांतिकारियों की बागडोर अपने हाथ में लिये हुए था, बड़ी दृढ़ता

के साथ सारी कठिनाइनयों का सामनाकरने के लिए तैयार हुआ। यद्यपि पूना का नवीन राज्य प्रबन्ध बहुत असङ्गठित दशा में था उस पर भी जो कुछ सेना एकत्रित हो सकी, उसे नाना फड़नवीस ने इकट्ठी करके हरिपन्त पाडके की अध्यक्षता में अंग्रेज़ी सेना को, जो कर्नल कीटिङ्ग के सेनापतित्व में बढ़ी आ रही थी, रोकने के लिये भेजा। हरिपन्त और उसकी सेना ने इस कार्य को बड़ी योग्यता के साथ पूर्ण किया। नापर और दूसरी जगहों पर उन्होंने शत्रुओं को हानि पहुँचाई।।

सन् १७७७ ई० में अंग्रेज़ों के भारत के राज्य-प्रबन्ध में कुछ परिवर्त्तन हुआ जिसके अनुसार बङ्गाल का गवर्नर सारे भारतवर्ष के अंग्रेज़ी राज्य का प्रधान समझा जाने लगा। उसने बम्बई के गवर्नर के इस कार्य को अर्थात् मरहठों के साथ लड़ाई छेड़ने को नापसन्द किया और मरहठा-राज्य के साथ सन्धि करने के लिये अपने राजदूत को पूना भेजा। नाना ने, जो कि उस समय समस्त भारत में अपने विरुद्ध उठी हुई बगावतों को दबाने के लिये अवसर की ताक में अत्यन्त उत्सुक हो रहा था, तुरन्त अंग्रेज़ों के सन्धि कर ली, जिसके अनुसार अंग्रेज़ों को सालसीट और भड़ोच मिल गये और उन्होंने राघोबा को उनके हवाले करने का वचन दिया।

ज्यों ही अंग्रेज़ों से सुलह हुई नाना ने महादाजी शिन्दे को महाराष्ट्र के अन्तर्गत पैदा हुए विप्लव को दबा देने के लिये नियुक्त किया और पाडके और पटवर्धन, हैदरअली को, जिसने कि मरहठों के राज्य पर आक्रमण किया था, दण्ड देने के लिये भेजे गये।

परन्तु जब सारे मरहठे-सेनापति भिन्न-भिन्न कार्यों पर नियुक्त हो कर, उन्हें पूरा करने के लिए चले गये तब अंग्रेज़ों ने सन्धि की अवहेलना करके राघोवा को मरहठों के हवाले करने से इन्कार कर दिया और फिर इस विचार से युद्ध की घोषणा कर दी कि जब तक बाहर

भेजी हुई मरहठी सेनाएं आकर नाना की सहायता करेंगी, उसके पहले ही हम पूना में चल कर उसे कुचल डालेंगे। मरहठों को भयभीत और व्याकुल करने की इच्छा से सन् १७७६ ई० में कर्नेल एजर्टन की अध्यक्षता में कुछ फ़ौजें पूना के लिए रवाना हो गईं। मरहठों ने भी, जो कि पुरन्धर के सुलहनामे को पसंद नहीं करते थे, सारी भीतरी बग़ावतों से, जिन्हें महदजी ने दबा दिया था, छुट्टी पाकर अंग्रेज़ों को ललकारा और अपनी परम्परागत गुरेला लड़ाई की नीति का अवलम्बन किया। अंग्रेज़ों को फुसलाते हुए उन्हें इतनी दूर आगे ले गये कि उनका सम्बन्ध बम्बई से टूट गया। भिवराओं पांसे अंग्रेज़ी सेना के किनारे २ लगा हुआ आगे बढ़ता चला गया और लगातार उसे लाचार करता गया और ऐसी चालाकी के साथ उसने अपने आप को बचाये रखा कि अंग्रेज़ी सेना उस पर धावा नहीं कर सकती थी, परन्तु मरहठे जब कभी उन्हें पहाड़ों के किनारे पाते थे तो अचानक उन पर आक्रमण कर देते थे, जिसे अंग्रेज़ बचा भी नहीं सकते थे। उनकी सेना बारम्बार तितर-बितर कर दी जाती थी और उनकी रसद के पहुँचने में भी हस्त क्षेप किया जाता था। अन्त में जब एजर्टन दर्रों के सिर पर पहुँच गया तो उसका सम्बन्ध बम्बई से बिल्कुल टूट गया। मरहठों ने जब देखा कि उनका दुश्मन उनकी राजधानी के समीप पहुंच गया है तो वे भी सर धड़ की बाजी लगा कर पूर्ण शक्ति से लड़ने लग पड़े। इन लोगों ने यहां तक निश्चय कर लिया कि तेलगांव से पूना तक की सारी भूमि उजाड़ और सुनसान कर दी जाय और यदि आवश्यकता पड़े तो राजधानी तक को भी फूंक दिया जाय, किन्तु उसे किसी प्रकार शत्रु के हवाले न किया जाय। इस भयानक जातीयता के दृढ़ विचार का अंग्रेज़ों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। खान्डाला के युद्ध में कर्नेल को मरहठों ने बड़ी बुरी तरह घायल किया और किर्की की लड़ाई में कैप्टन स्टीवर्ट को मार डाला जिससे अंग्रेज़ बहुत दुःखी हुए। पग-पग पर अंग्रेज़ों की हानि अधिकाधिक होने लगी। लेकिन योग्यतापूर्ण और नियमों के पालन में अद्वितीय अंग्रेज़ आगे बढ़ते ही

गये और अन्त में तेलगांव जा पहुँचे। लेकिन वहां उन्हें महादजी शिन्दे और परिपन्त पाडके की बड़ी भारी सेना का सामना करना पड़ा। अंग्रेज़ों ने बड़े उत्साह के साथ आक्रमण किया। अन्त में मरहठों की सेना पीछे हटी और भिन्न २ हिस्सों में बट गई और फैले हुए अंग्रेज़ों पर चारों ओर आक्रमण करती रही, उस पर भी वे बिल्कुल सुरक्षित रहे। न तो शत्रु को खाना मिलता था, न उनके घोड़ों को चारा मिलता था। अंग्रेज़ों के पास किसी प्रकार यह खबर भी पहुँच गई कि ज्यों २ उनकी सेना आगे बढ़ती जायगी, उन्हें और भी सुनसान स्थान मिलेंगे। बहादुर तथा हठी अंग्रेज तब भी आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहे। लेकिन चपल मरहठों ने उन्हें अच्छी प्रकार घेर लिया था तथा उन्हें भली-भांति सूचित कर दिया था कि वह अपनी राजधानी को फूंक देंगे, किन्तु अंग्रेज़ों के हाथ न जाने देंगे। अंग्रेज़ सेनापति ने मरहठों के कार्य्यों को देखकर भली भाँति जान लिया कि पूना की ओर बढ़ना खासी की ओर बढ़ने के समान आसान नहीं है। उसने अब इस उलझन से निकलने का केवल यही उपाय देखा कि वह बम्बई लौट चले। यद्यपि यह उनके लिये बड़ा अपमानजनक विचार था तथापि इसके इलावा और कोई चारा भी न था। पीछे की ओर लौट जाना भी असंभव था इसलिये अंग्रेज़-सेनापति ने मरहठों को विस्मित करने के लिये अपनी फौज को मरहठो पर अचानक आक्रमण करने की आज्ञा दी और कहा कि इसके पश्चात् धीरे धीरे पीछे हटो। लेकिन मरहठों को हैरान करने का विचार वैसा ही था, जैसा कि बच्चा अपनी दादी को दूध पिलाना सिखावे। मरहठे यह सब बातें पहले से ही जानते थे। ज्योंहि अंग्रेज़ों ने आक्रमण किया, उन्होंने घेरा तंग कर लिया और इशारा पाते ही बड़े वेग से शत्रुओं पर टूट पड़े। अंग्रेज़ बड़ी ही वीरता के साथ लड़े, लेकिन मरहठे तिलमात्र भी न हिले। अंत में बड़गांव में पूर्णतया पराजित होकर अंग्रेज़ों की ६ हज़ार सेना ने बिना किसी शर्त के मरहठों के सामने अपने हथियार

रख दिये। नाना, बापू और शिन्दे ने कहा कि राघोबा को शीघ्र हमारे हवाले करो और उन सारे किलों को जो तुम्हें पुरंधर के संधिपत्र के अनुसार मिले हैं, हमें वापिस कर दो। इस के अतिरिक्त दो अंग्रेज अधिकारियों को, उस समय तक धरोहर रूप में रोक लिया गया जब तक कि अंग्रेज इस सुलहनामे की शर्तें पूरी नहीं करते। अंग्रेज सेनापति ने लगभग एक महीना तक मरहठों के हाथ में कैदी रह चुकने के पश्चात सुलहनामे की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया ताकि उसकी सेना किसी प्रकार बम्बई लौट जाय। इस बड़ी विजय के समाचार को सुनकर सारे महाराष्ट्र के भीतर प्रसन्नता बिजली की तरह दौड़ गई। विशाल "यूनियन-जैक" (अंग्रेजी झंडा) मरहठों के पीले और सुनहरी झंडे (जरीपताका) के सामने झुक गया। यद्यपि पारिवारिक झगड़े हो रहे थे और मरहठे असंगठित दशा में थे, पर समय पड़ने पर सारी जाति खड़ी हो गई और उनके इस प्रजा-तन्त्र ने अपने इतने वीर और बलवान शत्रु को भली भांति हरा दिया। केवल यही एक बचा हुआ विपक्षी था जिसने इससे पहले मरहठों की प्रधानता के सम्बन्ध में कभी भी किसी प्रकार प्रश्न नहीं उठाया था। ज्योंहि उसने ऐसे प्रश्न करने का साहस किया, उसी समय उसे नम्र होकर उनको सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में मानना पड़ा। उस समय के पत्रों में लिखा मिलता है—"हमारी जाति ने अंग्रेजों को वह पाठ पढ़ाया जैसा कि दूसरा कोई नहीं पढ़ा सकता था। इससे पहले उन्हें कभी इतना अपमानित नहीं होना पड़ा था"।

सब लोग पेशवा के परम भक्त थे। वह भी जनता के उद्देश्यों का केंद्र था। अपनी विजय भी उसी राजा-बनने वाले शिशु के महा भाग्य के कारण ही समझते थे। "जन्मकाल ही से हमारे प्यारे शिशुराजकुमार का जीवन वैसा ही चमत्कारपूर्ण हुआ है जैसा कि महाराज आनन्दकंद श्रीकृष्ण जी का हुआ था। हमारे शत्रु मिट गये और परमात्मा ने हमारी जाति के महान उद्देश्य और हिन्दू-धर्म के पवित्र युद्ध में हमें आशीर्वाद दी है"।

१६

अंग्रेज भी झुके

❀ "प्रतापमहिमा थोरजलामधिं परि जलचर बुडविला ॥"
"नवि मोहिम दरसाल देउनी शाह टिपू बुडविला ॥"

एक बड़ी अंग्रेजी सेना के पराजित होकर हथियार रख देने का समाचार ज्योंही कलकत्ता पहुँचा, अंग्रेज क्रोध से भड़क उठे। उन्होंने बड़गाँव की संधि को उस समय प्रमाणित करने से इन्कार कर दिया, जिस पर कि उनके सेनापति ने, अपनी सेना को वापिस आने की आज्ञा पाने पर, हस्ताक्षर कर दिये थे। फिर वे मरहठों के साथ अधिक द्वेष के साथ नई शत्रुता करने के लिये उद्यत हो गये। रघुनाथराव यदि किसी दूसरे राज्य में होता, तो राज-विद्रोही होने के अपराध में मार डाला गया होता, किन्तु सब कुछ होते हुए भी उसके साथ एक राजकुमार जैसा व्यवहार किया जाता था, परन्तु वह अपने नीच स्वभाव के कारण इसका दुरुपयोग करके फिर भाग कर अंग्रेजों से जा मिला। फिर भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। गोडार्ड गुजरात से आया और बसीन की ओर बढ़ा। उस को रामचन्द्र गणेश मरहठे-सेनापति ने रोका और घमसान का युद्ध होने लगा। अन्तिम बार उसने ऐसी वीरता और साहस के साथ आक्रमण किया कि उसके दुश्मन भी उसकी प्रशंसा करने पर विवश हो गये। विजय ध्रुव थी, किन्तु अभाग्यवश एक गोली इस बहादुर सेनापति को लगी, वह घोड़े से गिर पड़ा जिस से गोडार्ड ने सन् १७८० ई० में बसीन पर अधिकार कर लिया। इस विजय से प्रोत्साहित होकर अंग्रेजों ने बड़गाओं के स्थान पर लड़ाई में हथियार डाल देने के अपने कलंक को मिटाने के लिये मरहठों की राजधानी पूना ही को लेने का विचार किया, जिस के लेने में पहली बार वे बुरी तरह असफल हो चुके थे।

❀ यद्यपि टीपू मल्लरमल्ल के समान पराक्रमी था पर मरहठों ने प्रतिवर्ष आक्रमण करके उसे मिट्टी में मिला दिया।

इसलिए अंग्रेज़ी सेना शीघ्र ही पूना के लिये चल पड़ी ताकि वह नाना तथा उनके साथियों को भयभीत करके उनके हाथ से हथियार रखवाले। लेकिन महाराष्ट्र के उस निपुण राजनीतिज्ञ नाना ने पहिले ही अंग्रेज़ों को फंसाने के लिये सारे भारतवर्ष में एक भयंकर जाल बुन लिया था। उसने हैदरअली से मद्रास और भोंसले से बंगाल पर आक्रमण करने की प्रतिज्ञा ले ली थी, और अपने हाथ में उसने बम्बई में अंग्रेज़ों की शक्ति को नष्ट करनेका काम लिया। तदनुसार हैदरअली ने फ्रांस गवर्नमेण्ट की सहायता से मद्रास में सुविख्यात सफलता प्राप्त की। परशराम भाऊ १२ सहस्र सेना के साथ उस अंग्रेज़ी सेना के इर्द-गिर्द मंडराता हुआ उनकी बगलों और पीछे वाली सेना पर आक्रमण करता हुआ उनको पूना की ओर प्रगति में बाधायें डालता रहा। नाना, तुकोजी होल्कर और हरिपन्त पाडके ने तीस सहस्र सेना लेकर अंग्रेज़ी सेना का सामना किया। अब जनरल गोडार्ड ने भी अपने आपको जनरल एजरटन की अवस्था में फंसा हुआ पाया। यदि वह आगे बढ़ता तो उसे भी अपने पूर्ववर्त्ती जनरल की तरह दुर्भाग्य का शिकार होना पड़ता, तो भी वह इतना आगे बढ़ आया था कि अब पीछे लौट जाना उसके लिये हानिकारक और अपमानजनक था। इस लिये वह उसी जगह पर जम कर अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। लेकिन वह इस प्रकार भी देर तक न कर सका। मरहठों ने कैप्टन मैके और करनैल ब्राउन को, जो गोडार्ड का सामान पहुंचा रहे थे, आक्रमण करके हैरान कर दिया और ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि अंग्रेज़ी सेना का सम्बन्ध ही बम्बई से टूट गया। अन्त में निराश होकर करनैल गोडार्ड को पूना पर धावा करने का विचार त्याग कर लौट जाने का निश्चय करना पड़ा। ज्यों ही निराश होकर अंग्रेज़ी सेना ने पीछे की ओर मुड़कर चलना आरम्भ किया त्योंही भाऊ और तुकोजी होल्कर अपनी सेना का घेरा तंग करके उन पर टूट पड़े। यद्यपि अंग्रेज़ बड़ी शूरता और वीरता के साथ लड़े तथापि मरहठों ने उन्हें बुरी प्रकार हराया। जो सेनापति मरहठों की राधानी पर विजय

प्राप्त करके बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये आया था वह किसी प्रकार अपने अच्छे ग्रहों के कारण से भाग कर, अपना लगभग सारा बारूद, बन्दूकें, खेमें तथा सामान और हजारों तोपों के गोलों और सहस्रों बैलों को छोड़ कर, बम्बई पहुंचा। यह सारा सामान विजयी मरहठों के हाथ लगा। धृष्टता से दो बार अंग्रेज़ों ने पूना को जीतने का जी तोड़ कर प्रयत्न किया, किन्तु दोनों ही बार बुरी तरह हार खाई और अन्त में अपमानित और निराश होकर बम्बई लौट गये। इस के पहिले अंग्रेज़ इतने अपमानित होकर कभी भी घर नहीं लौटे थे।

उत्तर भारत में भी अंग्रेज़ इस से अच्छी तरह न लड़ सके। प्रारम्भ में गोहाद के राना की सहायता से अङ्गरेज़ों ने सींधिया के ग्वालियर के किले को घेर लिया, किन्तु महादजी सींधिया के घोर आक्रमण करने पर इसे देर तक अपने हाथ में न रख सके। करनैल मूर भी अपने मित्र की सहायता के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचा, किन्तु वह भी कुछ न कर सका। दक्खिन में हैदरअली से हार कर और बम्बई में तुकोजी और पटवर्धन से नीचा देखकर और उत्तर में सींधिया से परास्त होकर अङ्गरेज़ों ने उस मित्रता की जाल को, जिसे नाना ने तैयार किया था, तोड़ने का प्रयत्न किया और महादजी सींधिया से प्रार्थना की कि वह उन लोगों के साथ एक अलग सुलहनामा पर हस्ताक्षर करे। नाना फड़नवीस ने अलग सुलह करने से साफ़ उत्तर दे दिया और कहा कि बिना हैदरअली की राय के वह किसी प्रकार की सन्धि नहीं कर सकते।

मरहठों की जल-सेना ने भी अच्छी सफलता प्राप्त की थी। उनके सेनापति आनन्दराव धुलाप ने अंग्रेज़ों पर एक सुविख्यात विजय पाकर उनके 'रेञ्जर' नामी बेड़े को पकड़ लिया और इसे युद्ध में लूटा हुआ माल समझकर अपने साथ ले गया। ठीक उसी समय जब कि सन्धि की बातचीत हो रही थी, हैदरअली मर गया। इसलिए नाना ने १७८३ ई० में सन्धि कर ली। इस संधि के अनुसार अंग्रेज़ों ने रघुनाथराव को

मरहठों के हवाले किया और सालसिट को छोड़कर जो देश वे मरहठों के दबा बैठे थे तथा पुरन्धर के सुलहनामे में पाये थे, मरहठों को लौटा उन्होंने यह भी प्रण किया वे किसी भी राजा को मरहठों के विरोध में सहायता न देंगे। मरहठों ने भी प्रतिज्ञा की कि वे कोई कार्य ऐसा नहीं करेंगे जिससे अंगरेज़ों को हानि पहुँचे। सबसे महत्वपूर्ण बात इस सुलहनामा में यह हुई कि दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में हस्ताक्षेप न करने की अङ्गरेज़ों ने प्रतिज्ञा की और इस पर मरहठों का पूर्ण अधिकार माना कि ये जो चाहें कर सकते हैं।

इस प्रकार मरहठों और अङ्गरेज़ों की पहली लड़ाई का अन्त हुआ। मरहठों ने योरुप की उस शक्ति के साथ, जो अभी तक मरहठों से नहीं लड़ी थी, रण में लड़ कर तथा उन्हें पराजित करके उनको यह पाठ पढ़ा दिया कि यद्यपि वे बङ्गाल और मद्रास में शक्तिशाली हैं तथापि यदि वे लोग सह्याद्रि के दुर्ग की ओर कुदृष्टि फेरेंगे और मरहठों के हिन्दू-साम्राज्य का अहित सोचेंगे तो उनका सिर कुचल दिया जायगा।

सालबाई के संधि-पत्र के थोड़े ही दिन बाद राघोबा ने भी अपनी चाल को बदल दिया। उसने अपनी जाति को शत्रुओं के हाथ में फंसाना उचित न समझा। इसने अपने नीच विचारों और कर्मों द्वारा मरहठों को उनके उच्च आदर्श से गिरा दिया था जिसके लिए उनके पूर्वज लड़ते हुए मरे थे; अब वे आपस में ही लड़ने के लिए तत्पर हो गए थे। उसका जीवन महाराष्ट्र के लिये वैसा ही हानिकारक सिद्ध हुआ जैसी पांनीपत की लड़ाई। सालबाई की सन्धि के थोड़े ही समय बाद रघुनाथ-राव मर गया। मरता हुआ भी वह अपनी जाति के लिए अपने से भी अधिक एक और कलङ्क छोड़ गया। मरहठों के अभाग्यवश रघुनाथराव के एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम उसके पितामह के नाम पर बाजीराव द्वितीय रक्खा गया। यह लड़का उन नीच कर्मों के

करने में तत्पर हुआ जिनको छोड़ने के लिये इसका पिता विवश किया गया था। यह महाराष्ट्र की स्वाधीनता को एक ठीकरे के मूल्य पर बेच कर महाराष्ट्र-राज्य के नाश का कारण हुआ।

लेकिन जब तक नाना फड़नवीस और महादजी जीवित थे, तब तक ऐसा नहीं हो सका था।

२०

सर्व-प्रिय पेशवा - सवाई माधोराव

*दैन्य दिवस आज सरले सवाई माधोराव प्रतापि कलियुगि अवतरले ॥ध्रु०॥

सुन्दररूप रायाचें कुरवावर नाहिं रागें भरणें ॥

कलगितुरा शिरपेंच पाचुची पडत होति मुखावर किरणें ॥

महोत्साह घरोघर लागले लोक करायाला ॥

परशराम प्रत्यक्ष आले जणु छत्र धरायाला ॥

नाना और महादजी क्रमशः हिन्दू-धर्म के मस्तिष्क और तलवार थे। वे महाशक्तिशाली राज्य का विशाल भार अपने प्रशांत कन्धों पर उठाने के लिये ही उत्पन्न हुए थे। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और पुर्तगाल ने राज्य स्थापन के लिए जितने भी राजनीतिज्ञ भेजे उनमें से कोई भी इन दोनों महापुरुषों को बल और बुद्धि में नीचा न दिखा सका। हेस्टिंग्स, वेलज़ली और कार्नवालिस की उनके सामने एक भी न चली। दोनों ने ही हिन्दू-राज्य के बढ़ते हुए वैभव को देखा था। दोनों ने ही महाराष्ट्र

---

*प्रतापवान् सवाई माधोराव कलियुग में पैदा हुए तब, हमारी दरिद्रता के दिन समाप्त हो गए यह परम सुन्दर और शान्त स्वभाव थे। सिर पर मणि जटित कलगी की ज्योति उनके मुख पर पड़ती थी। घर-घर खुशियां मनायी जाने लगीं और लोग यह समझने लगे कि साक्षात् परशुराम राज्य सम्भालने के लिये पैदा हुये हैं।

की नीति, उसका उद्देश्य और अपने कर्त्तव्य की शिक्षा नानासाहब और सदाशिवराव भाऊ से पाई थी। दोनों ने ही पानीपत का मैदान देखा था और वहां से लौट कर उस रक्त-रञ्जित भूमि पर पड़े हुये वीर-पुरुषों के उद्देश्य को पूरा करने का उन्होंने दृढ़ निश्चय किया था। उस पर उन्हें ऐसे राज्य का भार उठाना पड़ा जो उस समय गृह-कलह से जर्जर हो रहा था, जो नाश के तट पर खड़ा था। जिसका राजा भी नाममात्र का था और जिसका प्रधान मन्त्री था एक अबोध बालक और जिसको नष्ट करने के लिए एक महा-शक्तिशाली युरोपीय शत्रु अपनी राज्यलिप्सा के लिये समग्र शक्तियों का उपयोग कर रहा था। फिर भी उन्होंने अदम्य उत्साह और विलक्षण बुद्धि से सम्पूर्ण कठिनाइयों का सामना किया; राज्य के सब विद्रोहियों को शान्त किया और अपने विशाल बाहुबल तथा सुदूरदर्शिता से समस्त युरोपीय और एशियाई शत्रुओं को पराजित करके नीचा दिखाया।

राज्य की दशा सुधारने के लिए उन्हें एक ऐसी क्रांति पैदा करने तथा उसे संयत रखने का कठिन उत्तरदायित्व लेना पड़ा, जिसका परिणाम बिल्कुल अनिश्चित था। किन्तु इस क्रान्ति ने सारे शत्रुओं और सरकार पर विजय पाई। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक और राजनीति के अनुकूल था कि इस विजय को किसी महोत्सव द्वारा संसार को विदित कराया जाता। बालक पेशवा—सवाई माधोराव—का विवाहोत्सव इस राष्ट्रीय आनन्द को मनाने के लिये अत्यन्त उपयुक्त अवसर था। वह प्रजा का मनोनीत था, उसी के लिये राष्ट्र ने युद्ध भी ठाना था। जिस पेशवा की हत्या के लिये शत्रुओं ने युद्ध ही नहीं किया वरन उसे गुप्त और नीच प्रयत्नों द्वारा विष देकर मार भी डालना चाहा, आज उसे सब संकटों से सुरक्षित पाकर राष्ट्र के आनन्द का क्या ठिकाना! जिस प्रकार कंस के अत्याचरों से कृष्ण को सुरक्षित पाकर गोकुल वालों ने आनन्द मनाया था, उसी प्रकार सारी प्रजा अपने प्यारे पेशवा को जीवित पाकर आनन्द में मग्न हो गई। इस राजकीय महोत्सव में सम्मिलित होने के

लिये लोगों के चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे। राजकुमार, सरदार, कवि, प्रसिद्ध ग्रंथ-कर्त्ता, सेनापति तथा कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ सब पूना शहर में अपने प्यारे और प्रतापी राजकुमार का दर्शन पाने तथा विवाहोत्सव मनाने के लिये एकत्र हो गये। संसार में महाराष्ट्रमंडल की धाक जमाने के लिये और विदेशियों तथा शत्रुओं की इस दुराशा को, कि महाराष्ट्रमंडल शीघ्र ही गृहकलह से छिन्न-भिन्न होकर नष्ट भ्रष्ट होने वाला है, दूर करने के लिये नाना ने स्वयं महाराष्ट्र छत्रपति को निमन्त्रित किया, और जब वे प्रधान मंत्रि के विवाहोत्सव की शोभा बढ़ाने के लिये पूना के पास पहुँचे तो अत्यन्त राजकीय समारोह के साथ उनका स्वागत किया।

भव्य राज-भवन में छत्रपति सिंहासन पर विराजमान थे। उनके चारों ओर वाइसराय, सेनापति, जैनरल, राजनीतिज्ञ और राजकुमारगण बैठे थे। इनमें से कितने तो इतने बड़े प्रान्तों के शासक थे जो दूसरे महाद्वीपों के एक राज्य के बराबर थे। उस सभा के पटवर्धन, रास्ते और पाडके जाति के लोग वर्तमान थे। वहां पर होलकर, सोन्धिया, पवार, गायकवाड़ और भोंसला के प्रतिनिधि उपस्थित थे। वहां पर हरिद्वार से लेकर रामेश्वर तक के विद्वानों का जमघट लगा हुआ था। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के महाराजे सादर निमन्त्रित किये गये थे और उनके प्रतिनिधि राजदूत सभा में उपस्थित थे। निज़ाम, मुगलराज और भारत की यूरोपीय शक्तियों ने अपने २ राजकुमार और राजदूतों द्वारा भेंट भेजी थी। राजधानी से मीलों दूर तक घोड़ों, तोपों और पैदल सेनाओं का पड़ाव पड़ा था जिसके देखने से महाराष्ट्र की युद्ध-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता था। आंगरे और घुलाप जल-सेना के अधिनायक थे। पेशवा की ओर से आंगरे अतिथियों के स्वागत का प्रबन्ध बड़ी योग्यता से कर रहा था। उस विशाल जनसमुदाय के ऊपर बड़े-बड़े सुनहले गेरुवा झंडे फहराते थे, मानों राष्ट्र को स्वधर्म-राज्य अथवा हिन्दू-पद-पादशाही के महान् कर्त्तव्य की ओर संकेत कर रहे ने।

एक नियत संकेत पर पैदल, अश्वारोही और तोपों की सेना के बाजे बजने लगे और "प्यारे राजकुमार की जय हो, जय हो" के उच्च निनाद से दिशायें गूँज गईं। इसी समय परम सुन्दर और नव कुमार पेशवा ने राज-कर्मचारियों के साथ अत्यन्त धूमधाम से धीरे २ राजभवन में प्रवेश किया। सारा राज-समाज खड़ा हो गया और सिर झुकाकर पेशवा को राष्ट्र के प्रति अपनी दृढ़ राज-भक्ति का परिचय दिया। किन्तु लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने बालक पेशवा को, जो भारत का वास्तविक शासक था, सितारापति छत्रपति की ओर, जो सभा के मध्य में सिंहासन पर बैठे थे, फूलों की माला से तीन बार लपेटे हाथों को जोड़ कर जाते हुए देखा। यही नियम था कि पेशवा राजा के सामने उपस्थित हो और हाथ जोड़ कर उसकी अधीनता स्वीकार करे। इस दृश्य से बड़े-बड़े वीरों की आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे; यहां तक कि शांत तथा विरक्त मन्त्री के गम्भीर मुख पर भी प्रसन्नता झलकने लगी और उनकी आँखों से आँसुओं की बड़ी २ बून्दें टपकने लगीं।

इस महोत्सव ने फिर से मरहठों में नवीन जीवन फूंक दिया और महाराष्ट्र फिर से एकता के सूत्र में बँध गया। अन्य भारतीय राजा और यूरोपीय शक्तियाँ, जो मरहठों की फूट पर फूली न समाती थीं, आज नाना और अन्य महाराष्ट्र नेताओं की सफलता देखकर निराश हो गयीं। इस उत्सव का महाराष्ट्र के नेताओं पर भी कम प्रभाव न पड़ा। प्रजातन्त्र के गौरव ने उनमें एक तरह का अभिमान भर दिया और अकेले-अकेले राज्य-स्थापन की महत्ता इसके आगे कितनी तुच्छ है—इसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया।

जैसे २ गृहकलह की अग्नि बुझती गई, महाराष्ट्र उन्नति के शिखर पर चढ़ता गया। नाना फड़नवीस और उनके सहायकों ने शासन, आय-व्यय और न्याय की ऐसी व्यवस्था की थी कि सारे भारतवर्ष में महाराष्ट्र तथा उसके अन्तर्गत प्रांतों का शासन ही सर्वोत्तम था। भूमि कर नियत करने

और उसके वसूल करने की विधि, न्यायालयों में छोटे-बड़े सबके साथ समान व्यवहार का समुचित प्रबन्ध और इन सब के उपरान्त लोगों को यह अनुभव कराना कि उस महान् कर्त्तव्य की पूर्ति, जिसके लिए उनके पिता-पितामह और देवताओं तक ने अपना रक्त बहाया था, कितनी आवश्यक है; और उनका सम्बन्ध एक ऐसी जाति से है जो हिन्दूधर्म की रक्षा और स्वाधीनता के लिये अपने विशाल कन्धे पर एक महान् राष्ट्र वहन कर रही है—इन सब विचारों को लेकर कोई भी हिन्दू ऐसा न था जो ऐसे शुभ समय में पैदा होने में अपना अहोभाग्य न समझता हो। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति एक ऊँची भावना से प्रभावित हो रहा था। नित्य प्रति एक-न-एक विजय अथवा कोई अन्य शुभ समाचार पहुंचता ही रहता था। तुच्छ-से-तुच्छ मनुष्य भी इस देश के लिए यह अत्यन्त गौरव का समय समझता था. और उसके विचार में यह सारी उन्नति बालक पेशवा सवाई माधोराव के शुभ-ग्रह की कृपा का ही परिणाम थी। यह प्रसिद्ध जनश्रुति थी कि स्वयं पहले माधोराव पेशवा ने ही मुसलिम तथा अन्य विदेशी अत्याचारियों को नष्ट करके आ समुद्र शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य-स्थापन की इच्छा पूर्ण करने के लिये दूसरे माधोराव के रूप में जन्म ग्रहण किया है। यही कारण था कि जब से बालक पेशवा का जन्म हुआ, राष्ट्रीय झण्डे पर भाग्यदेवी की सदैव कृपा रहती थी। ऐसे प्रच-लित अन्धविश्वास भी कभी २ राष्ट्र की आत्मा के अस्पष्ट उद्गार होते और राष्ट्रीय कार्यों एवं उसकी विजयों पर उनका प्रभाव कम नहीं पड़ता।

सालबाई के सुलहनामे के पश्चात् ही नाना ने हैदरअली के उत्तरा-धिकारी और महाराष्ट्र के भयानक शत्रु टीपू को ठीक करने के लिये परशुराम भाऊ और पटवर्धन को आज्ञा दी। सन् १७८४ ई० में युद्ध के कारण उपस्थित होने लगे। टीपू ने नारगुन्द के हिन्दू-राज्य पर अत्या-चार करना आरम्भ कर दिया और राजा ने मरहठों से सहायता मांगी। पटवर्धन और होल्कर के सेनापतित्व में निज़ाम की सहायता से मरहठों

ने टीपू को हराया और उसे सन्धि करने पर विवश किया, जिसके अनुसार टीपू को चौथ का पिछला सारा बकाया चुकाना पड़ा और उसे नारगुन्द पर अत्याचार न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ी। किन्तु मरहठों के पीठ फेरते ही उसने सारी प्रतिज्ञा पर पानी फेर दिया। नारगुन्द का किला ले लिया और अपने पूर्वजों का अनुकरण करते हुए राजा तथा उनके समस्त परिवार को निर्दयतापूर्वक मरवा डाला और राजा की लड़की को अपने अन्तःपुर में ले गया। तत्पश्चात मानों स्वर्ग के समस्त सुखों पर एकाधिपत्य प्राप्त करने और पाक मौलवियों तथा मुसलिम इतिहास-लेखकों से दीनरक्षक, गाजी, औरङ्गजेब और तिमूर इत्यादि महान पदवियां पाने के लिये उसने कृष्णा और तुङ्गभद्रा के बीच की हिन्दू-जनता पर घोर पाशविक अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। इसलाम मजहब कबूल कराने के लिये जितने प्रकार के कष्ट देते बन पड़े, टीपू ने एक को भी न छोड़ा; और धर्म-रक्षा में तत्पर मरहठों को मानों धत्ता बताने के लिये ही उसने बलपूर्वक हजारों मनुष्यों की सुन्नत करा डाली तथा उन पर हर प्रकार के पाशविक अत्याचारों का प्रयोग किया। हमें इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये कि जो लोग मुसलमानों द्वारा युद्ध में मारे गये, यद्यपि उन्होंने अपने प्राण शिवाजी और श्री स्वामी समर्थ रामदास जी के उपदेशानुसार संगठित होकर लड़ते हुए समर्पण न किये थे तथापि यह तो अवश्य था कि इन लोगों ने अपमानित होने की अपेक्षा मृत्युमुख में जाना अधिक अच्छा समझा, क्योंकि एक दो नहीं बल्कि दो सहस्र से भी अधिक ब्राह्मणों ने, जिन्हें टीपू हठात् मुसलमान बनाना चाहता था, अपने धर्म से च्युत हो घृणास्पद बनने की अपेक्षा बलिदान हो जाने में गौरव समझ कर अपने को धर्म पर निछावर कर दिया। मरहठों के आन्दोलन से पहले ही धर्म पर बलिदान होना लोगों की प्रतिदिन की दिनचर्या थी, अर्थात् हिन्दुओं ने मुसलमानी धर्म ग्रहण करने की अपेक्षा शरीर त्याग कर देना उचित समझ रक्खा था। श्री स्वामी रामदास जी ने सह्याद्रि

पर्वत की चोटी पर खड़े होकर उच्च स्वर से कहा कि ऐसा करना भूल है; क्योंकि यद्यपि यह बात सत्य है कि मुसलमान होने की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेयस्कर है तथापि इससे बढ़ कर यह बात श्रेयस्कर है कि हम लोग प्रयत्न करें कि हमें कोई मुसलमान न बना सके और न हम मारे जाएं। हमें अत्याचार करने वाली शक्ति को ही नष्ट कर देना चाहिये। मर जाना अच्छा है, पर विधर्मियों को मारते हुए प्राण दे देना इस से भी श्रेष्ठ है। उनके सैंकड़ों चेले इस सिद्धान्त को छिपे २ मठों में जा जा कर लोगों को समझाने लगे। घर २ में इसका प्रचार होने लगा और उन्होंने लोगों को समझाया कि केवल कांटों के छत्र की ही इच्छा मत रखो, बल्कि असली विजय के ताज के लिये भी उसके साथ ही प्रयत्न करते जाओ। इन सब बातों को जानते हुए भी टीपू सुल्तान ने औरङ्गजेब की भांति जबरदस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया जबकि महाराज शिवाजी के वंशज अभी तक पूना में राज्य कर रहे थे। सहस्रों ब्राह्मणों तथा आन्ध्र, करनाटक और तामिल प्रान्त के हिन्दुओं का करुण आर्तनाद पूना पहुँचा; उन लोगों ने मुसलमानों के हाथों से मुक्ति दिलाने के लिये मरहठों से प्रार्थना की। क्या ब्राह्मण-राज्य इस बात को सहन कर सकता था? क्या मरहठों का हिन्दू-राज्य कृष्णानदी के पार रहने वाले अपने धर्मावलम्बियों की इस दुर्दशा को सुनकर कभी चुप बैठा रह सकता था? नहीं; यह सर्वथा असम्भव था। टीपू का ऐसा करना मरहठों को युद्ध के लिये ललकारना था; जिसे उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया, और यद्यपि उनकी सेना उत्तरी भारतवर्ष में लड़ने में व्यस्त थी, तो नाना के अपने सहधर्मियों की सहायतार्थ तुरन्त ही करनाटक की ओर प्रयाण कर दिया। निज़ाम को भी उसने अपना ओर इस शर्तपर मिला लिया कि टीपू के राज्य का जो भाग वे जीतेंगे, उसका तीसरा भाग उसको देंगे। इसके बाद उसने मरहठी सेना को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से धर्मांध टीपू पर आक्रमण करने की आज्ञा दी, जिसके अनुसार पटवर्धन बेहरे तथा

अन्य मरहठे सेनापतियों ने एकत्रित होकर अपनी सेना को भिन्न २ भागों में विभाजित कर दिया, तथा शत्रु के बदामी आदि किलों पर अधिकार कर लिया और उन्हें इतना तंग कर दिया कि वे विवश हो गये तथा उन बेचारों ने भागकर पर्वतों की खोहों में शरण ली; पर हिन्दू सेना ने उस मुसलिम धर्मवीर टीपू को, जिसने हिन्दू-स्त्रियों, बच्चों और शांतिप्रिय साधुओं को सताने तथा उनकी बालिकाओं को धर्मभ्रष्ट करने में भारी ख्याति प्राप्त करली थी, वहां पर भी सुखपूर्वक न रहने दिया। जब टीपू ने देखा कि एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य उसका सत्यानाश कर के संसार में कहीं भी उसे शान्तिपूर्वक नहीं रहने देता तो उसने सुलह की प्रार्थना की।

यद्यपि सहस्रों हिन्दू और उनकी बालिकाओं ने धर्मरक्षा के लिये अपने प्राण निछावर कर दिये तथापि टीपू सुलतान की तलवार की धार मुड़ने की अपेक्षा और तेज होती गई, यहां तक कि विवश होकर उनके (हिन्दुओं के) धर्मरक्षक को उनकी सहायता के लिये सेना भेजनी पड़ी। इस प्रकार हर तरह से विवश होकर टीपू ने नारगुंद, कित्तूर और बादामी की रियासतों को मरहठों के हवाले किया तथा बकाया लगान का तीस लाख रुपया भी उसी समय दे दिया और उसी वर्ष पन्द्रह लाख रुपया और देने की प्रतिज्ञा की। अगर चाहते तो मरहठे भी अपनी शक्ति के जोर से मुसलमानों को हिन्दू बनाकर उन मौलवी-मौलानाओं को, जो टीपू की आज्ञानुसार हिन्दुओं पर भांति-भांति के अन्याय और अत्याचार कर उनकी शिखा कटवा रहे थे, शिखा धारण करने पर विवश करते, परन्तु उन्होंने न तो मस्जिदें गिरवायीं और न बलपूर्वक मुसलमान लड़कियों को उनके घरों से निकाला या अन्य धर्मावलम्बियों को संगीनों के जोर से हिन्दू-धर्म में लाने का प्रयत्न किया। ऐसी सभ्यता और वीरता के काम तो मरहठों की शक्ति से बाहर थे क्योंकि इन लोगों ने तैमूर, टीपू अलाउद्दीन और औरङ्गजेब की तरह कुरान की शिक्षा न पाई थी, इसलिये

वे न्यायोचित सत्कार्य्यों के करने में भी धर्म की हानि समझते थे। धर्मरक्षक मुसलमानों को छोड़कर ऐसे निष्ठुरता और अत्यचार के कामों को करने का भला कौन काफ़िर (हिन्दू) साहस कर सकता है ?

दक्षिण के हिन्दुओं को दुराग्रही टीपू के क्रोध से मुक्त करने के बाद अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति को एकत्रित करके मरहठों ने उत्तर के शत्रुओं को दबाने का अवसर पाया, जिन्हें अकेले महादजी सींधिया ही अबतक रोके हुए थे। सालबाई के सुलहनामे के अनन्तर महादजी उत्तर को चले गए थे। उनके हृदय पर अंग्रेज़ सेनापति के मातहत सुशिक्षित फौज का बड़ा प्रभाव था। उन्होंने भी पानीपत के वीर सदाशिवराव भाऊ के उपाय को प्रयोग में लाने का निश्चय किया। सदाशिवराव ने ही सर्वप्रथम अपनी सेना को युरोपियनों की तरह बाकायदा कवायद और डिसिप्लिन की शिक्षा दी थी—महादजी ने डी॰ बाइन नामक एक फ्रांसी जैनरल को रख कर एक विशाल सेना इस भांति सुसज्जित की जो किसी भी यूरोपियन सेना का भली भांति सामना कर सकती थी। इस प्रकार उन्होंने अपने आपको इस योग्य बना लिया कि उत्तर के सारे शत्रुओं को अपनी शर्तों पर सन्धि करने पर विवश किया। यद्यपि अंगरेज़ों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि भारतवर्ष के बादशाह अर्थात् दिल्ली की राजनीति से उनका कोई सम्बन्ध न रहेगा। और मरहठे जो चाहें कर सकेंगे, तो भी वे लोग असन्तोष फैलाते रहे और छिपे २ शाह आलम को अपने हाथ में रखने और उसे मरहठों के पास जाने से रोक कर महादजी के रास्ते में रोड़े अटकाने से बाज़ न आये।

यह सब कुछ होते हुए भी महादजी बादशाही राजनीति की बागडोर बड़ी मज़बूती के साथ अपने हाथों में पकड़े रहे। उन्होंने बादशाह को दिल्ली में लाकर वज़ीर की जगह के लिए मुसलमान प्रतिद्वन्द्वियों को हराया। मुसलमान और अङ्गरेज़ों को यह जानकर बहुत ही अधिक दुःख हुआ कि अन्त में बादशाह को महादजी को ही अपना

वज़ीर घोषित करने और शाही सेना भी उन्हीं के अधिकार में करने तथा दिल्ली और आगरे के दो सूबों का समस्त प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में सौंप देने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार सिंधिया ने मुसलमानी साम्राज्य के कफ़न में अन्तिम कील भी गाड़ दिया। इतना ही नहीं, बल्कि पेशवा को उसने "वज़ीर-ए-मुतलिक" के पद से विभूषित किया, और मुग़ल-सम्राट् के नाम पर उसे राज्य करने का अधिकार दिया तथा उसे महाराजाधिराज बना दिया। इसके बदले में उसने (६५,०००) पैंसठ हज़ार रुपये अपने निजी खर्च के लिये मांगे और नाममात्र का बादशाह कहलाने का हक भी मांगा। इस चकित कर देने वाली घटना और राज्य-प्रबन्ध के परिवर्त्तन से उस समय कैसी दशा उत्पन्न हो गई थी उसका वर्णन उस समय के एक मरहठा सम्वाददाता के शब्दों में किया जाता है—'राज्य हम लोगों का हो गया; मुगल-सम्राट् प्रसन्नता-पूर्वक पेंशनर होकर हमारे हाथ में है, वह अब भी बादशाह कहलाता है और यही उसकी इच्छा है। हम भी कुछ देर के लिये उसे ऐसा ही बनाये रखेंगे।"

इसी प्रकार जब अंग्रेज़ों ने भी यह अधिकार प्राप्त कर लिया था तब वे भी इस प्रकार १८५७ तक ऐसा ही आडम्बर रचे रहे। महादजी ने इस घटना को हिन्दुओं पर किसी उच्च आदर्श के रूप में रखने की इच्छा से सारे भारत में यह आज्ञा घोषित करा दी कि कहीं गोवध न हो। यह राजनैतिक परिवर्तन कागज़ों तक ही सीमित न रहा। उन्होंने सारे बुरे और हानिकारक नियमों को कम करना प्रारम्भ कर दिया और उनके स्थान पर महाराष्ट्र-मण्डल के हिन्दू-साम्राज्य के नियम प्रचलित कर दिये।

महादजी ने सबसे पहला काम यह किया कि अंग्रेजों को शाही-कर, मरहठों की चौथें और सरदेशमुखी देने के लिये कहा। उसके बाद उसने उन सूबेदारों और जमीदारों पर लगान लगाई जो कई वर्षों से स्वतन्त्र राजों की भांति कार्य कर रहे थे। महादजी के इस पग उठाने के कारण भारतवर्ष में तूफ़ान सा मच गया। सरदार, अमीर, खां—सब के सब मरहठों से युद्ध करने के लिये तैयार हो गये, इतना ही नहीं, बल्कि

हिन्दू-राजे और राव भी मुसलमानों और अंग्रेज़ों की सहायता से मरहठों की एकमात्र हिन्दू शक्ति का—जो कि भारत में एक हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने के समर्थ थी—विरोध करने लगे। उनका यह विरोध स्वाभाविक ही था, पर इसके साथ ही यह बड़े अभाग्य की बात थी। जयपुर और जोधपुर के दो बड़े हिन्दू-राज्यों ने मिल कर एक सङ्गठित दल तैयार किया। यह सङ्गठन इतना शक्तिशाली बनाया गया था, जितना बड़ा वे आज तक मुसलमानों अथवा अंग्रेज़ों के विरुद्ध कभी न बना सके थे। फिर मुसलमानी सेनाओं से मिलकर इन लोगों ने लालसोटे के स्थान पर सिंधिया की फौज से भीषण युद्ध किया। जिस समय घमासान का युद्ध हो रहा था, उसी समय सारी शाही मुसलमानी सेना एक इशारे पर, जो पहिले ही से नियत था, महादजी का साथ छोड़ राजपूतों से जा मिली। इस धोखे और विश्वासघात के कारण मरहठों को घोर पराजय उठानी पड़ी। पर वीर मरहठा सेनापति महाद् जी इससे तनिक भी विचलित न हुए और निर्भयतापूर्वक फौरन अपनी सेना को एकत्रित करने लगे। मरहठा सेनापति लाखोवा दादा के अधीन आगरे का किला था. मुसलमानों ने उस पर बहुत दबाव डाल रक्खा था, परन्तु मरहठा सेनापति ने डट कर मुकाबला किया। इस प्रकार उसने महादजी के शत्रुओं की बाढ़ को रोके रखा।

ठीक इसी समय नज़ीबखां का पोता गुलामकादिर, जिसे मरहठे अभी तक भूले न थे और जिसे उन्होंने क्षमा नहीं किया था, महादजी के हाथों से दिल्ली की रक्षा करने के लिये, रुहेलों और पठानों की फौज लिये आ पहुँचा। मूर्ख बादशाह के प्रोत्साहन से वह दिल्ली में घुस आया। महादजी उसी समय राजपूत और मुसलमानों की संयुक्त-शक्ति से आगरे में युद्ध कर रहे थे। उन्होंने पहले से ही इन दुर्घटनाओं की सूचना नाना को लिख भेजी थी और स्पष्टतया बतला दिया था कि इन सब आफतों की जड़ केवल अंग्रेज़ ही हैं। अंग्रेज़ सामने होकर मरहठों का सामना करने का साहस न रखते थे। उन्होंने कई बार सामना करने

का प्रयत्न भी किया पर सर्वदा असफल रहे थे। अंग्रेज इस बात को भलीभांति जानते थे कि यदि मरहठे कुछ समय तक और वज़ीर के पद पर वर्त्तमान रहे, तो अवश्य ही कुछ दिनों में खुल्लमखुल्ला खुद महाराजाधिराज के पद पर आरूढ़ हो जायेंगे। पर मरहठे तो प्रायः पहले ही ऐसा कर चुके थे। इन सब कारणों से मुगलबादशाह के अधिकारों को अपने हाथ में करने के लिये अंग्रेज़ बड़े ही व्यग्र हो रहे थे।

अब हम अपने पाठकों का ध्यान मरहठा-सेनापति के उस उत्साहवर्धक पत्र की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जो उन्होंने पूना में नाना के यहां भेजा था। उसमें लिखा था "हम लोग बृहत साम्राज्य की हित कामना के लिये ही जीवित हैं तथा प्रजातन्त्र राज्य के अभिषति के भक्त हैं। हमें व्यक्तिगत डाह और द्वेष का परित्याग कर देना चाहिये। यदि किसी को मेरे सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह हो तो उसे वह अपने दिल से निकाल दे। मैंने इस प्रजातन्त्र राज्य की जो सेवा की है, वह उन निन्दकों को चुप करा देने के लिये काफ़ी है जो हम लोगों के वास्तविक शत्रु हैं और जो हम में फूट डाल कर लाभ उठाना चाहते हैं। अब हम लोगों को समयानुसार काम करने के लिये उद्यत तथा बादशाही झण्डे के चारों ओर एकत्रित हो जाना परमावश्यक है, जिससे हम अपने उस जातीय महान ध्येय को, जिसे हमारे पूर्वजों ने हमें सौंपा है, सारे भारतवर्ष में सुरक्षित रख सकें और अपने इस महान साम्राज्य को टुकड़े २ होने और नष्ट होने से बचा सकें"।

नाना सेनापति की इस प्रार्थना को उस समय अनसुनी करने वाला मनुष्य न था, जब कि जातीय-कार्य संकट में पड़ा हुआ था। हम लोग ऊपर कह आये हैं कि वह टीपू के साथ युद्ध कर रहा था। किन्तु जब वह टीपू को भलीभांति नीचा दिखा चुका, त्योंहि होल्कर और अलीजाबहादुर को महादजी की सहायता के लिये भेज दिया। अब जबकि उनके पूर्वजों की वांच्छित हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित हो चुकी थी और सारा भारतवर्ष उसकी छत्र-छाया में आना ही चाहता था, राजपूतों और मरहठों को उस समय युद्ध के लिये उद्यत और शत्रुओं को सिर उठाने

का मौका देते देख कर नाना को बड़ा दुःख हुआ और उसने राजपूतों और खास कर जयपुर के राजा के साथ पत्र-व्यवहार करना प्रारम्भ किया। उसने पेशवा की तरफ से पत्र लिखा, जिसमें महाराजा जयपुर को समझाने का प्रयत्न किया गया था कि मुसलमान हिन्दू-मात्र के शत्रु हैं और मरहठा-राज्य प्रायः स्थापित हो चुका है, अतएव आप लोगों को शत्रुओं के साथ मिलकर हमारे साथ शत्रुता करना उचित नहीं।

पूना से भेजी हुई मरहठा-सेना की सहायता से महादजी ने शत्रुओं को भलीभांति पराजित कर दिया। फिर उसने बाना खाँ, अप्पा खांड-राव और अन्य मरहठे सेनापतियों के साथ डी बोइन की अध्यक्षता में दो सुशिक्षित सेनायें नजीब खां के पोते गुलामकादिर का सामना करने के लिये भेजी। मुसलमानों ने भी युद्ध करने की ठान ली। दो बड़ी घमसान की लड़ाइयां हुईं। मुसलमान ऐसी बुरी तरह पराजित हुए जैसे पहले कभी नहीं हुए थे और इधर उधर भाग निकले। इस्माइल बेग और गुलामकादिर दिल्ली की ओर भागे। मरहठों ने उनका बड़ा पीछा किया। बादशाह भय से कांपने लगा। गुलामकादिर ने रुपया मांगा, पर बादशाह न दे सका। इस पर निर्दयी और असभ्य रुहेले सरदारों ने क्रोध से पागल होकर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया और लूटमार करनी आरम्भ कर दी। गुलामकादिर ने बादशाह को सिंहासन से खीच कर पृथ्वी पर दे मारा और अपने दोनों घुटनों को उसकी छाती पर रख कर, तलवार से उस बूढ़े, बेबस, अकबर और औरङ्गजेब की सन्तान की आंखें निकाल लीं। इतनी ही निर्दयता से उसे संतोष न हुआ, उसने उसकी स्त्रियों और लड़कियों को पकड़वा मंगाया और अपने नौकरों को उन पर अपनी आंखों के सामने बलात्कार करने की आज्ञा दी। गुलामकादिर के क्रोध करने के कारणों में एक कारण यह भी था कि वह अपनी जवानी के समय में शाहआलम की आज्ञा से नपुंसक बनाया गया था।

राजधानी में लूट मच गई। मुसलमान मुसलमानों के ऊपर

अत्याचार करने लगे, मानों इसलाम के नाम पर अन्य धर्मावलम्बियों पर कर रहे हों। इसी भांति जो पहले बाहर अन्याय करता है कभी न कभी घर पर भी अवश्य करता है। अत: अन्यायी कभी-न-कभी अपना ही नाश करते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

अब अपने ही धर्मावलम्बियों द्वारा किये गये क्रूर तथा राक्षसी कृत्यों और अपमानों से नगर-निवासिनी मुसलिम-कन्याओं की कौन रक्षा करने वाला था। काफिरों यानी हिन्दू और मरहठों के अतिरिक्त ऐसा और कोई नहीं कर सकता था। दिल्ली राज्यसिंहासन के अधिपति इन मुगलों और इनके पूर्वजों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को धूल में मिला दिया था, उनकी मूर्तियां तोड़ डाली थीं। वे उनकी रानियों और राजकुमारियों को पकड़कर अपने महलों में ले गये थे। उन्होंने हिन्दू कन्याओं के सतीत्व को बलात्कार भ्रष्ट किया था। नवयुवकों को उनके धर्म से वंचित किया था। उन्होंने माता को बच्चे से, बहिन को भाई से जुदा किया था और हिन्दुओं के रक्त से होली खेली थी। यह सब कुछ इसलिये करते थे कि वे गाजी की प्रतिष्ठा तथा इस दुनियां में धर्म-रक्षक की पदवी प्राप्त कर सकें तथा दूसरी दुनियां में अपने लिये पुण्य के भागी बन सकें।

और अब हिन्दू दिल्ली में आ रहे हैं; लेकिन मसजिदों को तोड़ने के लिए नहीं; उनके झंडों को टुकड़े टुकड़े करने के लिये नहीं; मकबरों को धराशायी करने के लिये नहीं और न ही उन्हें अपवित्र करने के लिये; वे किसी राजकुमारी या दीन से दीन मुसलमान कन्या पर हाथ लगाने या उसे हिन्दू बनाने के लिये, माता को बच्चे से छीनने अथवा पिता का पुत्र से वियोग कराने के लिये नहीं आ रहे। वे सत्यानाशिनी शराब में पागल होकर खून बहाने या अपनी प्रतिष्ठा और गौरव का अंदाज़ा शत्रु के धड़ से पृथक् की हुई खोपड़ियों के ढेर लगा कर लगाने नही आ रहे। उनका उद्देश्य राजधानी को जला कर राख कर डालने का भी नहीं है। वे ऐसा कर सकते थे; और अगर करते भी तो मुसलमानों

को इसके लिये उन्हें दोषी ठहराने का कोई हक न था। पर हिन्दू तो इसलिये आ रहे हैं कि बादशाह, उसके परिवार और दिल्ली निवासियों की उन्हीं के सहधर्मियों के अन्याय और अत्याचार से रक्षा करें! समस्त नगरनिवासी मरहठों के आगमन के लिये ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे और उनके पहुँचने पर, क्या हिन्दू क्या मुसलमान—सबने एक हृदय होकर उन का स्वागत किया। अलीजा बहादुर, अप्पा खांडेराव, रानाखां और डी बोइन ने शहर पर अधिकार कर लिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि गुलामकादिर पहले ही भाग गया है तो वे बड़े दुःखी हुए, क्योंकि वह नजीबखां का पोता और मरहठों का स्वाभाविक शत्रु था, और उसे कुछ दण्ड न मिले उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। मरहठों ने औरङ्गजेब की सन्तानों के सुख के लिये मनुष्योचित समस्त उपायों का उपयोग किया, यद्यपि इसी परिवार ने मरहठों के सत्यानाश के लिये, गुलामकादिर के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचा था।

गुलामकादिर का पीछा करने के लिये एक बड़ी सेना पहले ही भेजी जा चुकी थी। वह भाग कर मेरठ के किले में छुपा हुआ अपनी रक्षा करने का विचार कर रहा था। गुलामकादिर ने थोड़ी देर तक इस सेना का मुकाबिला किया, पर जब देखा कि अब बचना कठिन है तो एक घोड़े पर चढ़ कर भाग निकला। लेकिन घबराहट में घोड़े से गिर पड़ा और बेहोश हो गया। गांव वालों ने उसे पहचान लिया और उसे मरहठों के पास ले आये। उस अधम को दंड देने के लिये मुसलमान-जनता जितनी लालायित थी, उतना और कोई भी न था। वह शिन्दे के सामने लाया गया और गुलामकादिर को उन सब शत्रुताओं का बदला चुकाना पड़ा जो कि उसकी तीन पीढ़ी और शिन्दे के मध्य थीं। उसकी बड़ी दुर्दशा की गई और चूंकि अब भी वह गालियां देने से बाज न आता था इसलिये उसकी जीभ काट ली गई और आंखें फोड़ दी गईं। इस प्रकार निर्दयतापूर्वक सताये जाने के बाद नजीब का पोता मुगल बादशाह के पास भेज दिया गया, जिसकी इच्छा अपने

सताने वाले को भी उसी दशा में देखने या सुनने की थी। वहां उसे मृत्युदन्ड मिला। इस प्रकार पानीपत के युद्ध-समय में मरहठों का नाश करने की प्रतिज्ञा करने वाले नजीब के परिवार का, स्वयं मरहठों के हाथों ऐसा नाश हुआ कि उसके वंश या राज्य का निशान भी अवशेष न रहा।

सन १७८६ ई० में दूसरे मरहठे-सेनापतियों के साथ महादजी ने अपने शत्रुओं पर विजय पाने में सफलता प्राप्त की और मुसलमानों तथा उनके सहायक राजपूतों को हरा कर उनका नाश कर दिया और ऐसी वीरतापूर्वक अंग्रेजों का सामना किया कि वे उसकी बहादुरी का लोहा मानकर दबने लगे। बूढ़ा मुगल बादशाह फिर उसके हाथ में आ गया और जब उसने महादजो को 'वकील-ए-मुतलिक' का पद देना चाहा तो उसने एक बार फिर इस पद को अपने स्वामी पेशवा के लिए प्राप्त किया।

जिन दिनों मरहठी सेनायें इस प्रकार उत्तर में फस रही थीं, टीपू के हृदय में फिर गुदगुदी पैदा हुई और उसने एक बार फिर अपनी शक्ति की परीक्षा करने का विचार किया। सन् १७८६ ई० से ही उसने धमकाना शुरू किया, पर वह सीधे मरहठों पर हमला करना नहीं चाहता था। वह किसी प्रकार अपना राज्य बढ़ाना चाहता था। उसने सोचा कि अगर मरहठों के कारण मैं अपना राज्य कृष्णा नदी की ओर नहीं बढ़ा सकता तो अपने पड़ोसी ट्रावनकोर के दुर्बल हिन्दू-राज्य पर आक्रमण कर उसी पर क्यों न अधिकार कर लूं ? इस लिये नाना ने निज़ाम और अंग्रेज़ों को साथ मिला कर टीपू से युद्ध ठान लिया और पटवर्धन ने भी टीपू के राज्य पर आक्रमण कर दिया। ध्यान देने की बात है कि मरहठों के पहुंचने पर उस प्रान्त के निवासियों ने अन्यायी टीपू के विपक्ष में उनकी सहायता की, यहा तक कि उन लोगों ने टीपू के सरदारों को वहां से निकाल बाहर किया और मरहठों के बाकी पड़े करों को वसूल करने में सहायता करने लगे। हुबली, धोड़वाड़ और

सिरीकोट के ले लेने पर मरहठे बड़ी तेजी से आगे बढ़े । टीपू का हाल ही का जीता हुआ धारवाड़ घेर लिया गया । मुसलमान सेनापति ने बड़ी वीरतापूर्वक वहाँ मुकाबला किया । मरहटों की सलाह न मान कर अङ्गरेज़ों ने चाहा कि छापा मार कर क़िले को ले लें, पर बुरी तरह असफल रहे । बड़ी वीरतापूर्वक कुछ दिनों तक युद्ध होता रहा । अन्त में बार २ आक्रमण करके मरहठों ने उसे ले लिया । पानसे, रास्ते और दूसरे सेनापतियों ने तुंगभद्र नदी पार करके सान्ती, बदनूर, पेनगिरी इत्यादि स्थानों को शत्रु से जीत कर अधिकार में कर लिया ।

उधर मरहठों की जल-सेना भी बेकार न बैठी थी । इसने समुद्र तट की रक्षा करने के साथ ही साथ करवार तथा हंसार इत्यादि स्थानों से मुसलमान सेनापतियों को निकाल बाहर किया । नरसिंहराव देवजी, गनपतिराव महेन्डेल तथा अन्य सेनापतियों ने चन्दावर, गिरिअप्पा, धारेश्वर और उदुगिनी आदि स्थानों को ले लिया और इसके बाद मरहठी फौज श्रीरङ्गपट्टम की ओर बढ़ी जहाँ दूसरी ओर से लार्ड कार्नवालिस की अध्यक्षता में इङ्गलिश सेना भी आ रही थी, जो टीपू की चालबाजियों से व्याकुल हो गई थी । घबराहट और भूख-प्यास के मारे उसका बुरा हाल था और अश्वारोही सेना पैदल हो रही थी, क्योंकि जहां आदमियों का यह हाल था वहाँ घोड़े को कौन पूछता ? चारे बिना घोड़े मर गये थे ।

भूखों मरती हुई अङ्गरेज़ी सेना के सुख का पारावार न रहा जब उसने सम्पूर्ण सामानों से लैस तथा सुसज्जित महाराष्ट्र-सेना को आते देखा । हरिपन्द फाडके ने मित्रों को सब आवश्यक वस्तुएं देकर निश्चिन्त किया और संयुक्त सेना दस दिन तक वहाँ ठहरी रही । मरहठे इस समय चाहते तो टीपू के राज्य का नाम-निशान भी शेष न रह पाता, पर नाना के विचार के अनुसार उसका सर्वनाश करना उचित न था । वह चाहता था कि टीपू कुछ दिन और इसी प्रकार मद्रास में अङ्गरेज़ों की इच्छा-पूर्ति के मध्य कण्टक-स्वरूप बना रहे । इसी लिये घमासान

ी लड़ाई के बाद जब टीपू ने अपने को सर्वथा मरहठों और अंगरेज़ों के हाथ में समझ कर सुलह की प्रार्थना की तो परशुराम भाऊ और रिपन्त फाडके के कारण अङ्गरेज़ों को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी। स सन्धि के अनुसार टीपू ने मरहठों को अपना आधा राज्य तथा ड़ाई का हर्जाना तीन करोड़ रुपये दिये और प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य ें ट्रावनकोर के राजा को न सतायेगा। उसके दोनों लड़कों को मरहठे और अङ्गरेज़ों ने अपने पास ज़मानत के रूप में रखा। जो टीपू से मेला उसे दोनों ने निज़ाम के साथ बराबर २ तीन भागों में विभाजित कर लिया। मरहठों को एक करोड़ रुपये क्षतिपूर्ति और नब्बे लाख सालाना आय की ज़मीन मिली। इस प्रकार टीपू के साथ तीसरी लड़ाई का अन्त हुआ और मरहठी सेना सन् १७९२ ई० में बड़ी प्रतिष्ठा और नाम के बाद पूना पहुँची।

महाराष्ट्र राज्य के उत्तरी विभाग की सेना का सेनापति भी उसी समय पठान और रुहेलों के साथ नाम पाप्त करके राजधानी की ओर लौटा। फाडके और रास्ते, तथा महादजी की सेनायें भी, जिन्होंने क्रमशः दक्षिण भारत में हिन्दुत्व की टीपू के क्रोध से रक्षा की और अङ्गरेज़ों तथा फ्रांसीसियों के परोक्ष में मुग़ल बादशाह को हिन्दू-साम्राज्य का पेन्शनर-मात्र बना छोड़ा था, पूने में आ मिलीं। इन महान् पुरुषों के पूना में संगम ने भारत तथा भारत से बाहर के दर्बारों को भयभीत कर दिया; उन्हें अपना भाग्य भविष्य में शङ्कित दिखाई पड़ा।

इस बड़े सङ्गम का क्या अर्थ हो सकता था? इसके पश्चात् महाराष्ट्र-मण्डल कौन कार्य अपने हाथ में लेगा तथा अब इसका शिकार कौन होगा —इत्यादि बातों को जानने के लिये सब लोगों की दृष्टि पूना की ओर लग रही थी, क्योंकि पूना के अन्तर्गत हो जाने के कारण अब दिल्ली की कोई गणना ही न होती थी। लेकिन मरहठे अपने तईं झूठी बातों के भ्रम में पड़ कर परेशान होने लगे। नाना और महादजी

व्यक्तियों में पारस्परिक द्वेष बढ़ रहा है। पर ये दोनों देशभक्त "हिन्दू-प्रजातन्त्र" स्थापित करने की लालसा और भक्ति के कारण ही अपने भावों को रोके और दबाये हुए थे, और इस प्रजातन्त्र की स्थापना, रक्षा और इसको प्रभावशाली बनाने में इन दोनों से बढ़कर शायद ही किसी व्यक्ति ने अधिक परिश्रम किया हो, पर क्या वह द्वेषाग्नि, जो आज तक छिपी थी, भड़क कर गृह-कलह पैदा कर देगी? अगर ऐसा हुआ तो हिन्दू-राज्य के लिये इससे बढ़ कर दु:ख की बात और क्या हो सकती है? सारा महाराष्ट्र इस ख्याल से कांप उठता था; और सब लोग बड़ी चिन्तापूर्वक अपने दोनों बहादुरों और राजनीति-विशेषज्ञों की ओर देख रहे थे।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि बूढ़ा मुग़ल बादशाह, जो अब भी मरहठों की कृपा से बादशाह की उपाधि का उपभोग कर रहा था, 'वकीले मुतलिक' और 'महाराजाधिराज' का पद महादजी को देना चाहता था; किन्तु इसने अपने लिये अस्वीकार कर उसे अपने स्वामी बालक पेशवा के लिए प्राप्त किया। यह कार्य केवल दिखलाने मात्र को न था। यद्यपि एक बेबस और अयोग्य व्यक्ति के लिये उन पदों का मूल्य इतना भी न था, जितना कि उस काग़ज़ का मूल्य था जिस पर वह उपाधि लिखी हुई थी, तो भी वह शब्द निरर्थक हो न रहे। उनका पदाधिकारी मुग़ल बादशाह के नाम पर सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य पर राज्य करने का अधिकारी हो गया और मुग़ल बादशाह ने अपने बादशाही अधिकारों से त्याग-पत्र दे दिया। मरहठों, अङ्गरेज़ों और दूसरे बिधर्मियों के बीच बादशाही ताज के लिये मुक़ाबिला था, इसलिये यही उचित समझा गया कि ताज और पद बूढ़े मुग़ल बादशाह के पास पहले ही की भांति बने रहें। इस प्रकार मुगल-सम्राट् को सारे अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया।

लेकिन अङ्गरेज़ और दूसरी मुस्लिम शक्तियां भी यह भली-भाँति जानती थीं कि ये पद अगर एक बार भी मरहठों के हाथ में चले गये तो

ऐसे सुरक्षित हो जायँगे कि उनके पास फटकना भी दुस्तर हो जायगा। अतः द्वेष-भाव से प्रेरित हो, मरहठों को नीचा दिखाने की इच्छा से, अङ्गरेजों ने पुराने मुग़ल बादशाह को अपना बादशाह साबित करने की कोशिश की और इस बात को सर्वसाधारण पर विदित कराने के लिये उत्तरी सरकार को (जिसे अपने बाहुबल द्वारा उन्होंने बहुत पहले से जीत लिया था) अपने पास रखने के लिये शाहआलम से आज्ञा मांगी।

किन्तु मरहठे भी अपने प्रतिद्वन्दियों से पीछे रहने वाले न थे। अतएव सम्राट् के नाम की आड़ लेकर वे सब प्रकार से राज्य-संचालन करते रहे और यही कारण महादजी सींधिया के महाराष्ट्र-मण्डल के मुखिया के लिये "महाराजाधिराज" और "वकीले मुतलिक" की पदवियों को मुग़ल सम्राट् से प्राप्त करने का था। अब बहुत दिनों के बाद एक अत्यन्त आदर्श जीवन व्यतीत करने के पश्चात् वह अपने छोटे सरदार को नवयुवक भगवान् के रूप में देखने के लिये लालायित होकर आया था; इसलिये प्राप्त किये हुये पदों से उसे विभूषित करने के लिये महादजी ने एक महान् उत्सव की आयोजना की।

जिस समय महाराष्ट्र-सेनापति महादजी की यह इच्छा हुई कि पेशवा को, जो पहले से ही राजाधिराज हैं, महाराज के पद से विभूषित करूँ, उसी समय नाना ने एक दल तैयार किया, जो इस पर यह कहकर आपत्ति करने लगा कि इससे महाराज-सितारा का अपमान होगा। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि एक राज्य के निवासियों या रक्षित राज्यों के पदाधिकारियों ने दूसरे राजाओं के दिये पदों को स्वीकार किया है और उससे उनके राज्य की कोई भी हानि नहीं हुई है। यही नहीं, कितने तो ऐसे भी उदाहरण हैं कि दूसरे राज्य वालों के दिये पदों को लोगों ने यह सोच कर स्वीकार कर लिया है कि उनके राज्य की उन्नति होगी। इन बातों के यथार्थ होते हुए भी, इस विचार से कि जातीय आन्दोलन में किसी प्रकार का भेदभाव न उपस्थित हो, महादजी ने महाराज-सितारा से प्रार्थना की, जिसके उत्तर में छत्रपति

ने स्वयं पेशवा को महाराजाधिराज-पद से विभूषित करना स्वीकार किया। इन राजनैतिक कठिनाईयों के दूर हो जाने पर बड़ी धूम-धाम से पेशवा को महाराजाधिराज तथा वकीले-मुतलिक की पदवी दी गई और यह इनाम उनके वंशजों के लिये सदा के लिये सुरक्षित कर दिया गया।

अब पेशवा को मुगल बादशाह के नाम पर काम करने का अधिकार मिल गया। यही नहीं, बल्कि उसके सेनापति महादजी को यह भी अधिकार मिल गया कि मुगल बादशाह के जिस त्र को चाहें उसका उत्तराधिकारी बनायें। अब सारे भारतवर्ष में घोषणा कर दी गई कि कोई गोवध न करे। सींधिया, नाना फडनवीस तथा अन्यान्य महाराष्ट्र-सेनापतियों और नेताओं ने इस पवित्र कार्य के लिये उन्हें धन्यवाद दिया। अब मरहठों ने अपने अधिकारों को इस योग्य बना लिया था कि उनके द्वारा अपने प्रतिद्वन्दियों को चाहे वे यूरोपियन हो या एशियाई—तथा जो मुगलबादशाह ही को वास्तविक महाराज मानने के बहाने उनका (मरहठों का) अपमान करते थे—नष्ट कर सकें।

शासन-कार्य में भी मरहठों ने मुगल बादशाह के स्थानापन्न समझे जाने का दावा पेश किया। वे शाही फौज के सेनापति तथा राज्य के मन्त्री थे; मुगल-राज्य के उत्तराधिकारी चुनने के लिये स्वतन्त्र थे; और सब से बड़ी बात तो यह थी कि वकील-ए-मुतलिक (महाराजाधिराज) का पद सदा के लिये उनका हो गया था।

जब उत्सव समाप्त हो गया तो मनुष्यों की भारी भीड़ इस जुलूस के महल को लौटने का दृश्य देखने के लिये एकत्रित हो गयी। मनुष्यों की जयध्वनि, और तोप-बन्दूकों की गरज से आकाश गूँज उठा। जुलूस के महल के सामने पहुँचने पर पेशवा ने इनके संयोजकों की बड़ी प्रतिष्ठा की। हिन्दू-पद-पादशाही के सेनापति तथा इस उत्सव के विधाता महादजी अपनी सारी शक्ति और शान का विचार छोड़ कर आगे बढ़, पेशवा का जूता उठा लिया और धीरे से बोला—"हिन्दू-साम्राज्य के अधिपति महाराजाधिराज ! सारे राजकुमार, राजे,

राने, तुर्क, मुग़ल बादशाह, रुहेले, नबाब और फिरंगी राजनीतिक क्षेत्र से मिट कर आपके आज्ञापालक बन गये हैं। आपका यह दास जन्म से लेकर अपना सारा जीवनकाल हाथ में तलवार लेकर, इस प्रजातन्त्र के हित के लिये, दूर देशों में ही व्यतीत करता रहा है। राजाओं पर विजय प्राप्त करके सारा मान, गौरव और प्रतिष्ठा जो मैंने पाई है, वह भी आपके चरणों में बैठ कर आपकी जूतियों की रखवाली करने की मेरी तृष्णा को न बुझा सकी। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि दिल्ली में प्रधान-मन्त्री होकर रहने की अपेक्षा मुझे महाराष्ट्र में पटेल बन कर रहने का अधिकार मिले। अतएव कृपा कर के दूर देशों में जाकर काम करने से मुझे मुक्त कर दें और यहीं सेवा करने की आज्ञा प्रदान करें। मुझे भी अपनी पूर्वजों की भांति आपकी वैयक्तिक सेवा में समय व्यतीत करने का सुअवसर मिले।"

महादजी वाक्-पटु था। पेशवा सवाई माधोराव अच्छी प्रकृति का और सरल हृदय नवयुवक था। वह राजनीति के सम्पूर्ण अङ्गों का ज्ञाता था। महादजी वस्तुतः पेशवा का भक्त था और शीघ्र ही उसने उसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उसके हृदय में हिन्दु-पद-पादशाही के प्रबन्ध-मन्त्री बनने की इच्छा उत्पन्न हुई, जिस पर इस समय नाना फडनवीस था। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर स्वयं प्रधान-मन्त्री नाना द्वारा निश्चित कार्यक्रम में हस्तक्षेप करने लगा और एक बार जब सुअवसर मिला तो उसने नाना के विचारों का घोर विरोध किया। लेकिन उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ जब उसने पेशवा को गम्भीरतापूर्वक यह कहते सुना, "नाना और महादजी मेरे राज्य के दो हाथ हैं। प्रथम दाहिना और दूसरा बायां हाथ है और प्रत्येक अपने २ कार्य में दक्ष है। उनके संगठित कार्य से ही राष्ट्र की उन्नति है। इनमें से कोई अगर अपने पद से ज़रा भी हटा दिया जाय तो वह शक्तिहीन हो जाएगा।"

यद्यपि महादजी बातचीत करते समय बड़ा सतर्क रहा था तो भी नानासाहब के चतुर और बुद्धिमान् मित्रवर्ग से यह बात छिपी न रह सकी।

इस समाचार को पाकर नाना, हरिपन्त फाड़के और समस्त मन्त्रिवर्ग चौंक पड़ा। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य, सम्पूर्ण भारत को महाराष्ट्र के हिन्दू-साम्राज्य के अन्तर्गत करना था, जिसमें कोई भी स्वतन्त्रराज्य स्थापित न हो सके, अब अन्धकारमय दीख पड़ने लगा। वे इस बात को अपने जीवन-काल में होता नहीं देख सकते थे। वे भली-भांति जानते थे कि अपने पदों से हट जाने के प्रश्न का निपटारा तो हम त्यागपत्र द्वारा कर लेंगे, पर जनता पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा और वह असन्तुष्ट हो जायगी, जिससे अनिवार्य रूप से परस्पर युद्ध आरम्भ हो जायगा।

अपना बयान देने के लिये नाना पूना पहुँचा। अपनी सारी सेवाओं का वर्णन करने के बाद उसने पेशवा से निवेदन किया कि "यदि आप सींधिया के हाथ में कठ-पुतली बन जायेंगे तो राज्य पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। महादजी के परामर्श से यदि आप सहसा कोई काम कर बैठेंगे या कोई नवीन प्रबन्ध शीघ्र करेंगे तो आपस में लड़ाई छिड़ जायगी और हैदराबाद में तैयारी में लगे हुए मुसलमान तथा राज्य के नाश के इच्छुक अंग्रेज़ों की अभिलाषा पूर्ण हो जायगी और वे इस राज्य को छिन्न-भिन्न कर डालेंगे।" नेत्रों में आंसू भर कर प्रधान मन्त्री ने कहा—"यदि केवल मुझे अपने पद से हटाने का प्रयत्न है तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक हटने को तैयार हूं, और यह मेरा त्याग-पत्र है। यदि इतने से राष्ट्र का भला हो और पारस्परिक युद्ध टल जाय तो कृपा करके मुझे आज्ञा दीजिये कि अब काशीजी जाऊँ और इस संसार से सम्बन्ध विच्छेद करने की कोशिश करूँ।" नवयुवक पेशवा पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और महाराष्ट्र-निर्माता नाना के इस नम्र निवेदन पर उसका भी हृदय पिघल गया और उच्च स्वर से कहने लगा—"किन कारणों से आप ऐसा कह रहे हैं, और किस प्रकार ऐसे विचारों ने आपके हृदय में स्थान पाया? आप केवल मेरे मन्त्री ही नहीं, किन्तु मेरे पथ-प्रदर्शक, राजनैतिक गुरु और मित्र हैं। इस राज्य का सम्पूर्ण भार आपके कन्धों पर है और ज्यों ही आप हट जायेंगे, यह गिर कर टुकड़े २ हो जायगा।"

नाना का गला भर आया और कहने लगे—"महाराज! आपके जन्म-काल से ही नहीं, किंतु इसके पहले से भी आपके अधिकारों और इस राज्य की भलाई के लिए मैंने लाखों मनुष्यों से शत्रुता उत्पन्न की। अब मेरी उन सेवाओं की गणना नहीं है और शत्रुओं की बात सुनी जाती है।"

उदारचित नवयुवक इन बातों को सुन कर इतना दुःखी हुआ कि अपने राज्य के प्रधान होने और नाना के प्रधान मन्त्री होने की सुधि भी उसे न रही और प्रेम से अधीर होने के कारण उसके गले में अपना हाथ डाल कर सिसकते हुए कहने लगा—"मेरा त्याग न कीजिये; दुःखित होने का कोई कारण नहीं है, आप न केवल मेरे प्रधान-मन्त्री ही हैं प्रत्युत् बालपन से आप ही मेरे पिता हैं। यदि मैं अपने मार्ग से पथभ्रष्ट हुआ हूँ तो उसके लिए क्षमा कीजिये। कदापि मैं तुम्हें अपने पद से त्याग-पत्र देने अथवा पृथक् होने की स्वीकृति नहीं दूँगा। मैं आजीवन आपको नहीं छोड़ सकता।"

पेशवा के इन दयायुक्त विश्वासपूर्ण शब्दों से नाना, भाऊ, हरिपन्त फाडके तथा मन्त्री-मंडल के अन्यान्य नेता सशक्त हुए और महादजी पर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे भी विस्मित हो गये। चाहे व्यक्तिगत इच्छा जो कुछ भी रही हो, पर इसमें कुछ संदेह नहीं कि महादजी हिन्दू-साम्राज्य के उतने ही बड़े भक्त और शुभचिन्तक थे जितना उनके कोई भी सहयोगी कार्यकर्ता। वे सर्वदा अपने प्राण बलिदान करके उसे सर्वो-परि रखने में प्रयत्नशील रहने वाले थे। वह दादा राघोबा नहीं थे। यद्यपि उनका विचार महाराष्ट्र राज्य को अपने हाथ में रखने का था, पर वह कभी यह नहीं चाहते थे कि आपस में युद्ध हो। अतएव प्रसन्नतापूर्वक मन्त्रिमण्डल के साथ सहमत हो पेशवा की इच्छानुसार चलने पर तैयार हो गये। इसी बीच में हरिपन्त फाडके इत्यादि ने उनको घेर कर सूचित किया कि आपकी, मन्त्रिमण्डल के समस्त अधिकारों को अपने हाथ में रखने की इच्छा के कारण, हम लोगों में प्रतिद्वन्दिता होने लगेगी

जिससे बाहरी शत्रु प्रबल होकर उस हिन्दू-साम्राज्य को, जिसके लिए सहस्रों वीर आत्मायें बलिदान हो गईं, बड़ी हानि पहुंचायेंगे। नाना ने त्याग-पत्र दे देना उचित समझा है, कारण, वे गृहकलह पसन्द नहीं करते।

इन बातों का महादजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने प्रण किया कि भविष्य में अब वह कभी नाना और उसके दल का विरोध न करेगा, जैसा मरहठा इतिहास में कई बार पहिले भी हो चुका है, इस बार भी हुआ। जातीय हित के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को ठुकरा कर दो बड़े नेता सहयोगपूर्वक काम करने को फिर उद्यत हो गये। दोनों ने पेशवा के चरणों के पास बैठ कर शपथ खायी कि आज से वे लोग अपनी पुरानी बातों को भूल जायेंगे और पेशवा तथा इस प्रजातन्त्र की, जो हिन्दुओं और उनके धर्म का रक्षक है, सेवा में जीवन सफल करेंगे।

नाना फड़नवीस और महादजी के मनोमालिन्य दूर हो जाने का समाचार सारे महाराष्ट्र में फैल गया और सब लोगों ने इस बात पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इसका अन्दाजा गोविन्दराव काले के पत्र से—जो उस समय के महाराष्ट्र-मण्डल का एक बड़ा भारी विद्वान् और देशभक्त राजनीतिक था और निज़ाम-राज्य में रेज़ीडेण्ट नियुक्त था—लग सकता है। यह पत्र निज़ाम की राजधानी से इस प्रकार लिखा गया था—'आप के पत्र ने मुझे प्रसन्न कर दिया और मेरे आनन्द का पारावार न रहा। जब सारा विवरण पढ़ चुका तो हृदय में अनेकों विचार उठने लगे। अटक से हिन्दमहासागर पर्यन्त सारा देश हिन्दुओं का होने के कारण हिन्दुस्तान है, न कि तुर्किस्तान। पांडवों के समय से लेकर महाराज विक्रमादित्य तक ये ही हमारे देश की सीमाएं रही हैं और उन्होंने देशकी, विदेशियों से रक्षा की तथा उस पर शासन किया। परन्तु उनके उत्तराधिकारी इतने अयोग्य और नपुंसक निकले कि भारत के शासन की बागडोर यवनों के हाथ में चली गई और हमारी स्वाधीनता का नाश हो गया। बाबर के वंशजों ने हस्तिनापुर या देहली का राज्य जीता और

अन्त में औरङ्गज़ेब के शासनकाल में हम इतने दबा दिये गये कि हमारी यज्ञोपवीत धारण करने की धार्मिक स्वतन्त्रता भी छिन गई। इस समय अपने धर्म के निमित्त विवश होकर पोल-टैक्स देना पड़ता था तथा हमें विवश होकर अपवित्र भोजन खरीदना और खाना पड़ता था।

ऐसे नाज़ुक समय में महाराज शिवाजी का जन्म हुआ जो एक नवीन युग के प्रवर्त्तक और धर्म के रक्षक थे। उन्होंने भारतवर्ष के एक कोने को स्वतन्त्र करके हिन्दू-धर्म को शरण दी। उसके पश्चात् नाना साहब और भाऊसाहब हुये, जिनका तेज सूर्य की भांति चमका। जो कुछ हम खो चुके थे वह सब महादजी सींधिया की बुद्धिमत्ता द्वारा हम लोगों ने महाराज पेशवा के शासनकाल में फिर लौटा लिया। यह सब कार्य किस प्रकार सम्पादित हुए यह सोचकर आश्चर्य होता है। एक बार भी सफलता प्राप्त कर लेने पर हम अन्धे हो जाते हैं और उसके भारी परिणाम को नहीं देखते। यदि ऐसी सफलता मुसलमानों ने प्राप्त की होती तो कई इतिहास उनके गुणानुवाद में तैयार हो जाते। मुसलमान एक छोटे काम को भी आसमान तक चढ़ा देते हैं, पर इसके विपरीत हिन्दू यदि कोई कितना भी गौरवपूर्ण कार्य क्यों न करें, हम उसे प्रकट तक नहीं करते। किन्तु वास्तव में आश्चर्यजनक घटनाएं हुई हैं; अजेय जीता गया है। मुसलमान राज्य का काफिरों के हाथ में जाने और काफिरशाही आने की बात सोच २ प्रत्यक्ष रो रहे हैं।

वास्तव में जिन जिन लोगों ने भारतवर्ष में हमारे विरुद्ध सिर उठाया, महादजी ने सब को चकनाचूर कर दिया। हम लोगों ने जितनी सफलता प्राप्त की है वह मानवशक्ति के बाहर है। बहुत अंशों में सम्पूर्ण होते हुये भी अभी हमें बहुत से कार्य करने शेष हैं। कोई नहीं जानता कि कब और कहां हमारे अवगुण हमें असफल बनादें और दुष्टों की क्रूर दृष्टि हमारे लिये हानिकारक हो। हम लोगों का गौरव राज्य प्राप्त करने तक ही परिमित नहीं है, हम संसारिक सुखों से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते; बरन् वेद, पुराण और शास्त्रों की रक्षा, धर्म और हिन्दू-सभ्यता की वृद्धि

और गौ-ब्राह्मण की सेवा करना भी हमारा मुख्य कर्तव्य है; और इन सब उद्देश्यों की पूर्ति की कुञ्जी आप और महादजी के हाथों में है। आप लोगों के बीच का जरा-सा भी मनो-मालिन्य शत्रुओं की शक्ति को प्रबल बना देगा। किन्तु अब आप लोगों के आपस में मेल हो जाने के समाचार ने हम लोगों की सारी शंकाओं का अन्त कर दिया। अब अपनी सेनाओं को हम लाहौर में पड़ी रहने दें और सीमान्त की ओर बढ़ने के लिये तैयार हों। हमारे शत्रुओं की आशा थी कि हम लोग आपस में लड़कर नष्ट हो जायंगे; अब उनकी इन आशाओं पर पानी फिर गया। मुझे इसकी बड़ी चिन्ता थी; आज वे सारी चिन्तायें मिट गईं। अच्छा हुआ, बहुत ही अच्छा हुआ; अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई है।" सच्चे उत्साही कार्य्यकर्त्ता द्वारा लिखा हुआ उपरोक्त पत्र, कई दर्जन नीरस इतिहासों की अपेक्षा, मरहठों की आत्मा, स्वभाव और उत्साह का कहीं ठीक चित्र खींच देता है।

पर इन महान शंकाओं और आशाओं के संघर्ष के बीच ही महादजी को ज्वर हो गया और पूना के समीप वानावादी में १२ फरवरी सन् १७९४ ई० को इस संसार से चल बसे। इस से समस्त राष्ट्र शोकसागर में डूब गया।

शक्तिशाली सरदार और सेनापति महादजी की मृत्यु को देख कर महाराष्ट्र के शत्रुओं में नवीन जीवन का संचार हो गया, और वे महाराष्ट्र-मंडल को नष्ट करने के लिये प्राण-पण से प्रयत्न करने लगे। इन शत्रुओं में अग्रगण्य निज़ाम हैदराबाद थे जिनको मरहठों ने बिल्कुल निर्बल करके अच्छी प्रकार अपने हाथों में कर लिया था। अब वह मरहठों से बदला लेने का सुअवसर समझ कर उत्तेजित हो उठा। इस समय उसने अपनी सेना पहले की अपेक्षा बारहगुनी कर ली थी; और उसे एक फ्रांसीसी सेनापति की अध्यक्षता में रक्खा था। निजाम का मन्त्री मुशारूलमुल्क एक कट्टर मुसलमान था। महादजी ने, जो बादशाही अधिकार मुगल सम्राट से अपने पेशवा के लिये प्राप्त किया था, वह

उसे असह्य हो गया। मुसलमान गांव गांव और घर-घर घूमकर डींग मारते फिरते और कहा करते थे कि शीघ्र ही युद्ध होगा; जिसमें काफिर-शाही का अन्त होगा और पूना में मुसलमानी ध्वजा फहराएगी। निजाम का मन्त्री इतना ढीठ हो गया कि जब मरहठा रेजिडेण्ट ने उससे चौथ मांगी तो उसने उत्तर दिया कि नाना स्वयं हैदराबाद आवें और हमें बतलावें कि उन्हें "चौथ" लेने का क्या अधिकार है। फिर उसने कहा—"यदि नाना यहां स्वयं न आएगा तो मैं शीघ्र ही उसे यहां ले आऊँगा।" फिर यह सोच कर कि सम्भव है कि इतने ही अपमान करने पर मरहठे लड़ने को उद्यत न हों, निजाम ने एक बादशाही उत्सव किया जिसमें दूसरे देशों के भी राजदूत बुलाये गये थे। उन राजदूतों के समक्ष अपने दो दरबारियों को नाना और माधोराव पेशवा बना कर उनका हर प्रकार से परिहास किया गया। इस पर मरहठे राजदूत गोविन्दराव पिंगले और गोविन्दराव काले क्रोध भरे उठ खड़े हुये और निजाम के इस असभ्यता-पूर्ण कार्य का घोर विरोध और निन्दा की और अन्त में मरहठा वीर ने ललकार कर कहा, "ऐ मुशरूलमुल्क! तू ने कई बार अपनी शक्ति पर अभिमान करके नाना को नीचा दिखलाने का प्रयत्न किया और चाहा कि उन्हें हैदराबाद आने के लिये विवश करूं, किन्तु स्वयं अपमानित हुआ। इस बार तूने इस राजदरबार में हमारे स्वामी का अपने दरबारियों द्वारा अपमान कराया है। मैं आज ही ललकार कर कहे देता हूँ कि यदि मरहठे तुमको जीते पकड़ कर महाराष्ट्र की राजधानी में तमाशा बनाकर न घुसायें तो मेरा नाम गोविन्दराव नहीं।" यह कह कर मरहठे-राजदूत निजाम के दरबार से निकल कर पूना के लिये चल दिये और पूना पहुँच कर लड़ाई की घोषणा कर दी। अंग्रेज़ दोनों विपक्षियों के हितकारी बनने का ढोंग दिखाने के लिये सुलह कराने का प्रयत्न करने लगे; किन्तु मरहठों ने उन्हें डांट कर कह दिया कि महाराष्ट्र के कार्य्यों में आप लोग

हुये कि यद्यपि निज़ाम ने उनकी सहायता चाही, किन्तु अंग्रेज़ों ने देने का साहस न किया।

निज़ाम ने लड़ाई की बड़ी तैयारी की थी। उसका मन्त्री बड़ी बड़ी डींगे मारता था और उसने कुछ मुसलमान मौलवियों को आज्ञा दे दी थी कि घूम-घूम कर यह प्रचार करो कि यह धार्मिक युद्ध है और इसमें भाग लेना प्रत्येक मुसलमान का परम कर्त्तव्य है। काफ़िरों का सत्यानाश करके पूना को लूट कर जला देना हमारा परम धर्म है। वज़ीर मुशारूल-मुल्क स्वयं कहा करता था कि मैं मुगलराज्य को मरहठों की पराधीनता से मुक्त करूँगा और इस बार नवयुवक पेशवा को भिक्षुक बना दूँगा, ताकि वह महाराष्ट्र छोड़ कर बनारस जाकर द्वार-द्वार भिक्षा मांगे।

जबकि हैदराबाद का वजीर इस प्रकार की डींगे मारने में चूर हो रहा था, उस समय मरहठों का मन्त्री अपनी सेनाओं की गणना कर रहा था, और आक्रमण करने का उपाय सोच रहा था। यद्यपि उनके वीर सरदार और प्रधान सेनापति महादजी की मृत्यु हो गई थी, फिर भी मरहठों ने उस समय पूर्ण उत्साह दिखलाया। नाना की बुद्धि कभी इतनी प्रखर न हुई थी। अपने समाज के लोगों पर उसका जैसा अद्भुत प्रभाव इस बार दिखाई दिया पहले कभी देखने में न आया था। उसकी आज्ञा पर महाराष्ट्र की दूर देशों में फैली सेना, हिन्दू-पद-पादशाही के नाम पर पूना में एकत्रित होने लगी।

महादजी का उत्तराधिकारी दौलतराव सींधिया, आगरे का रक्षक जीवादादा बख्शी, दूसरे सेनापति, और जो सेनायें उत्तरी भारतवर्ष में पठानों, रुहेलों और तुर्कों को आधीन किये हुए थीं, बुलाई गई। तुकाजी होल्कर अपनी सेना के साथ वहां पर पहले से उपस्थित था। राघोजी भोंसला एक शक्तिशाली सेना लेकर नागपुर से चल पड़ा। गायकवाड़ भी बड़ौदा से चल कर पूना में आ पहुँचा। पटवर्धन, रास्ते, राजेबहादुर और विनचुनकर, घाटगे, ,, यावन, डाफिले, पवार, थोराट आदि बहुत से सरदार और सेनापति इस स्थान पर एकत्रित हो गये। पेशवा

ने स्वयं अपने मन्त्री को लिये सेना के साथ प्रस्थान किया। यह पहला अवसर था जब कि नवयुवक पेशवा ने स्वयं युद्ध में भाग लिया था। यह देखकर मरहठे सिपाही, शूरता और वीरता से भर उठे और इस आक्रमण को बहुत आवश्यक समझने लगे। निज़ाम पहले से ही रणक्षेत्र में डटा था। निज़ाम के साथ एक लाख दस हज़ार घुड़सवार और पैदल सेना और बहुत बड़ा तोपखाना था। उसे विश्वास था कि वह बिजयी होगा। मरहठों की बहुत सी सेनायें सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए पीछे रह गई थीं तथापि एक लाख तीस हज़ार सेना इकट्ठी हो गई। यह दोनों सेनायें महाराष्ट्र के सीमान्त पर पारदा स्थान पर मिलीं। नाना ने परशुराम भाऊ पटवर्धन को सारी सेना का सेनापति नियुक्त किया। ज्यों ही दोनों सेनाएं इतनी दूरी पर आ गईं कि गोली एक दूसरे पर पहुँच सके, लड़ाई प्रारम्भ हो गई। पठानों ने कई बार मरहठों की सेना को पीछे हटने के लिये विवश किया। चूंकि इस पराजित सेना में परशुराम भाऊ भी सम्मिलित था इसलिये मुग़लों और पठानों की प्रसन्नता का पारावार न रहा और उन्होंने इस सफलता पर अपने खेमे में एक दरबार किया। किन्तु जब मरहठों की मुख्य सेना पहुँची तब निज़ाम को अपनी भूल मालूम हुई। अहमदअली खां ने ५० हज़ार चुनी सेना लेकर मरहठों की सेना का सामना करके बड़ी वीरता से वार करना आरम्भ कर दिया। भोंसले की सेना ने उनका मुकाबला किया और उनकी सेना पर गोलाबारी शुरू कर दी। शीघ्र ही सींधिया के तोपखाने ने एक दूसरी तरफ से गोलावारी करना आरम्भ कर दिया। लड़ाई ने बड़ा भयङ्कर रूप धारण कर लिया। मुसलमान अल्लाहोअकबर की ध्वनि से आकाश को गुंजाने लगे, किन्तु फिर भी वे अपने स्थान पर डटे न रह सके। वे पीठ दिखा कर भाग गये और उनकी सेना को बहुत बुरी पराजय हुई। निज़ाम भी बहुत डर गया और लड़ाई के मैदान से भाग गया और रात्रि हो जाने के कारण मरहठों के हाथ न आया। छोटी २ लड़ाइयां सारी रात होती रहीं। घबराहट के कारण मुसलमानी सेना

तहस-नहस हुई। मौलवी लोगों द्वारा धर्म के नाम उत्साहित किये जाने पर भी मुग़ल घबराहट में पड़कर अपने ही खेमे लूटने लगे और शीघ्र ही सिर पर पांव रख कर भाग निकले। मरहठे-खेमों के रखवाले तम्बू में थे। जो कुछ लेकर वे भागे जाते थे ये सब ले लिया करते थे। प्रात: काल निजाम की सेना पहिली जगह छोड़ कर खारदा गांव के दुर्ग के पीछे जाकर खड़ी हुई। उस समय उसकी सेना में केवल दस हज़ार सिपाही रह गये थे। मरहठे पार्श्ववर्ती पहाड़ों पर से उन पर गोलाबारी करने लगे। दो-तीन दिन तक मुगल उनको सह सके। तीसरे दिन उस की दाढ़ी ही नहीं अपितु उसका धार्मिक साहस भी सच्चे अर्थों में झुलसा गया। तीसरे दिन प्यास से सूखे गले, धुएं से गला घुटे हुए, शत्रुओं ने लड़ाई को बन्द करने की प्रार्थना की। मरहठों ने कहा कि पहले मुशरूलमुल्क को हमारे हवाले करो तब कोई दूसरी बात होगी। लम्पटता-पूर्वक उसने मरहठे-राजदूत का, नहीं २ महाराष्ट्र के मन्त्री का, जो अपमान किया है, उसको अपनी उस बड़ी भूल का अवश्य बदला देना पड़ेगा। उन्होंने निराश होकर अपने राजमन्त्री को मरहठों के हवाले किया और यह इच्छा प्रकट की कि आप जिस शर्त पर कहें हम लोग सुलह करने को तैयार हैं। पारदा और ताप्ती के बीच का सारा देश और तीन करोड़ रुपये चौथ का बकाया मरहठों को मिले। इसके अतिरिक्त भोंसला ने १६ लाख रुपया लड़ाई का हरजाना अलग लिया। इन शर्तों पर मरहठों ने निजाम की सेनाको जो कि मरहठों की राजधानी पूना को जलाने, लूटने और पेशवा को काशी भेज कर भीख मंगाने आई थी लौट जाने दिया।

मुशरूलमुल्क को मरहठों को विजयी काफिरों की सेना के बीच क़ैदी बना कर घुमाया गया। जब वह क़ैदी की दशा में मरहठों के खेमे-खेमे घुमाया जाता था तो काफिर उसे देख कर हर-हर महादेव की ध्वनि से आकाश गुञ्जाते थे। उन्होंने उस आदमी को पकड़ा था, जो नाना के पकड़ने की डींग मारा करता था। मरहठों ने अपने राजदूत

के प्रण को पूरा किया। सज्जन मन्त्री और सर्व-प्रिय पेशवा ने शत्रु को यह दिखला दिया कि अगर वे चाहें तो उसे पूना के द्वार-द्वार घुमा सकते हैं। किन्तु उन्होंने उसका और अधिक अपमान करना उचित न समझा। नाना ने उसे क्षमा कर दिया। मरहठों ने यह दिखला दिया कि वे जिसे चाहें दण्ड दे सकते हैं, किन्तु वे बहुत लोगों को क्षमा ही कर दिया करते हैं।

पेशवा ने सारे सेनापतियों के साथ बड़े धूमधाम और उत्सव के साथ अपनी राजधानी में प्रवेश किया। चारों ओर से मनुष्योंके झुँड-के-झुण्ड पूना में अपने पेशवा और बहादुर सैनिक को बधाई देने के लिये आने लगे। पूना अपने विजयी सपूतों के स्वागत के लिये अति उत्तमता पूर्ण सजाया गया था। स्त्रियां बादशाही शहर के महलों की छतों झरोखों पर बैठी हुई विजयी शूरवीरों, सेनापतियों, राजनीतिज्ञों तथा अपने प्रिय पेशवा के ऊपर पुष्पों की वर्षा करती थीं। कुमारी कन्यायें तथा भद्र महिलायें, भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने २ द्वारों पर खड़ी होकर, अपने नवयुवक पेशवा की आरती उतारती थी। अपनी राज्यभक्त और श्रद्धालु प्रजा द्वारा सम्मानित होता हुआ पेशवा अपने राजमहल की ओर बढ़ता गया। बहुत से सेनापति और सरदार-गण अपनी बड़ी बड़ी सेनायें लिये हुए, राजधानी के चारों ओर बहुत दिनों तक पड़े रहे। यह देखकर नाना के मन्त्रित्व और भाऊ के सेनापतित्व में हिन्दू-महा-राष्ट्र के दिनों की याद आने लगी।

प्रिय पाठको! हम कुछ समय तक यहीं रुक जांय और अपने नवयुवक, भाग्यशाली और सुप्रसन्न पेशवा को अपनी प्रजा की अपार भक्ति और सर्वप्रियता का आनन्द करने के लिये, बलवान मन्त्रिगणों द्वारा जीते हुए राज्य को प्रजातन्त्र राज्य के उचित विभागों और विभाजित करके उनका सुप्रबन्ध करने के लिये, भविष्य कार्यक्रम बनाने के लिये, प्रान्तों के प्रतिनिधियों और सेनापतियों से परामर्श करने के लिये महाराष्ट्र के निवासियों को विजय की प्रसन्नता पर आनन्द मनाने के लिये, भाट

और राज-कवियों को अपने पूर्वजों और सन्तानों के गुणगान करनेके लिए जिनको सुनकर अब भी मनुष्य आनन्द से विह्वल होजाता है किसानों को नाना के सुप्रबन्ध से प्रसन्न होकर अपने हलों के पीछे गाना गाने के लिए छोड़ दें ; और हम उन मन्दिरों के दृश्य को देखें जहां पर सहस्रों मनुष्य भेंट लेकर नाना प्रकार से पूजा करने के लिये एकत्रित हुये हैं और अपने पूजन में मग्न हैं, जहां देशों के भिन्न-भिन्न मार्गों के यात्री, संन्यासी, योगी, यती और वैज्ञानिक हरिद्वार से लेकर रामेश्वर तक, अपने-अपने कार्यों में निश्चिंत होकर संलग्न हैं और जहां धनी लोग शास्त्रों और वेदों के अध्ययन के प्रोत्साहन के लिये करोड़ों रुपये व्यय कर रहे हैं, जिससे अध्यापक और विद्यार्थी गुरुकुल और महाविद्यालयों में विद्याध्ययन कराते और करते हैं, जहां सैनिक और मल्लाह लोग वीरतापूर्ण कहानियां अपनी प्यारी स्त्रियों और अपनी पूज्य मताओं को सुना रहे हैं और उन्हें अपने शौर्यपूर्ण कार्यों का समर्थन कराने के लिये शत्रुओं से लूट में पाये हुये हीरे जवाहरात और स्वर्ण को दिखा रहे हैं, सारा महाराष्ट्र स्वतन्त्र है और आनन्द के सागर में किल्लोल कर रहा है।

पाठको ! हमें प्रजा को ऐसे आनन्द में ही छोड़ देना उचित है ताकि स्वतन्त्रता और राष्ट्र-महत्ता के फल का उपभोग कर सकें जोकि उन्होंने कई पीढ़ियों के अपार परिश्रम और प्रयत्नों से प्राप्त किया है। यद्यपि उसे परमात्मा ने यह ज्ञान दिया है कि सुख क्षणिक है, तथापि वह सदैव वैभव की चोटी पर रहना चाहता है। इस लिये जितने समय तक उन सुखों को वह भोग सकता है उसे भोग लेने देना चाहिये।

अब हम, जो कुछ पहले संक्षेप से महाराष्ट्र के वर्तमान इतिहास में लिख आये हैं, उसी का सिंहावलोकन करेंगे। हम महाराष्ट्र के इतिहास को भारत के इतिहास से सम्बन्धित करने की चेष्टा करेंगे और यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि यह भारत के इतिहास का ही एक अंग है एवं उसका एक महत्वपूर्ण और मार्मिक अध्याय है।

उत्तरार्ध

सिंहावलोकन

—:●:—

१

आदर्श

महाराष्ट्र प्रभुत्व के अधीन भारतीय हिन्दू साम्राज्य।

"स्वामी हिन्दुराज्यकार्यधुरन्धर: राज्याभिवृद्धिकर्ते: तुम्हां लोकांचे आंगेजणीनें पावले, संपूर्ण हिन्दुस्तान निरुपद्रवी राहे तें, संपूर्ण देशदुर्ग हस्तवश्य करुन वाराणशीस जाऊन, श्रीविश्वेश्वरस्थापना करितात ॥"*

—रामचन्द्र पन्त अमात्य

महाराष्ट्र के इतिहास का सिंहावलोकन हम इस उद्देश्य से कर रहे हैं ताकि विस्तृत वर्णनों के झमेलों में से उन मुख्य २ घटनाओं को पृथक करके ऐसे क्रम से रखें जिससे हम पान-हिन्दू आन्दोलन दृष्टि से वर्तमान महाराष्ट्र के इतिहास का उचित मूल्य आंक सकें। और उसकी यथार्थ प्रशंसा भी कर सकें। हमारा ऐसा करने का दूसरा उद्देश्य यह है कि हम इसको इस प्रकार से वर्णन करें जिससे यह प्रकट हो कि महाराष्ट्र का इतिहास भी हिन्दू-राष्ट्रीय इतिहास का ही एक अङ्ग है अथवा

---

*सारे भारत के शासक, अपने राज्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने वाले, राज्य की प्रतिदिवस वृद्धि करने वाले महाराज! आपके आशीर्वाद से हमने इस कार्य में सफलता प्राप्त करके सारे भारत में शान्ति स्थापित कर दी, सारे किलों पर अपना अधिकार कर लिया, और बनारस में विश्वेश्वर जी की स्थापना की है।

उसका एक अध्याय ही है, यद्यपि वह कितना ही महत्वशाली और शानदार है। इसलिए यह परमावश्यक था कि हम महाराष्ट्र के इतिहास का यथासम्भव संक्षेप से वर्णन करते। उसके साथ यह भी ज़रूरी था कि हम उस मूलकारण, स्रोत तथा प्रेरिक शक्ति को भी एक निश्चित रूप में प्रकट करते जिससे कि प्रोत्साहित होकर सारी महाराष्ट्र जाति एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने तक, संघर्ष तथा प्रयत्न करती रही और अपने प्राणों की आहुतियाँ चढ़ाती रही। क्योंकि महाराष्ट्र प्रान्त से बाहर वाले लोग महाराष्ट्र के इतिहास के प्रथम भाग से ही भली भांति परिचित हैं और उस भाग का पिछले भाग की अपेक्षा, मान भी अधिक करते हैं—पिछला भाग बालाजी विश्वनाथ के प्रादुर्भाव तथा महाराष्ट्र-मण्डल की स्थापना से आरम्भ होता है। इसके विषय में लोग बहुत कम जानते हैं। राणाडे जैसे विद्वान् शिवाजी तथा राजाराम के वंशजो के पूर्ण वृत्तान्त उनके वास्तविक रूप में पहले ही प्रकट कर चुके हैं। हमने भी प्रथम भाग की केवल दो चार घटनाओं का ही स्थूल दृष्टि से वर्णन किया है। दूसरे भाग का हमने विस्तार-पूवक वर्णन किया है यद्यपि वह भी सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। दूसरे भाग के आरम्भ होने के साथ ही महाराष्ट्र का इतिहास विशेष महाराष्ट्र का इतिहास नहीं रह पाता, वरन् वह इतना महत्वशाली बन जाता है कि उसे सारे भारतवर्ष का इतिहास मानना पड़ता है।

पान-हिन्दू सिद्धान्त की दृष्टि से महाराष्ट्र इतिहास का सिंहावलोकन करने तथा उन सिद्धान्तों को, जिन सिद्धान्तों ने कि महाराष्ट्रवासियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रोत्साहित किये रखा—निश्चित रूप में प्रकट करने का जो हमने प्रयास किया है उसके सम्बन्ध में हमने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा, अपितु उस आन्दोलन के सञ्चालक विचारकों तथा कार्यकर्ताओं तथा उनके महान् उद्देश्यों से ही उसका समर्थन कराया है।

इस आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले वीर मुख से कुछ न कह

कर अपने कार्य्यों से ही अपने उद्देश्यों को जनता के सामने रखते थे, कारण यह था कि वे हिन्दू जाति के अङ्गों को पुष्ट करने में इतने व्यस्त थे कि उन्हें कुछ कहने का अवकाश ही नहीं मिलता था; तो भी जो कुछ उन्होंने कहा है उसका प्रभाव उतना ही पड़ा है जितना कि उनके कार्य्यों का। उनके इन कथनों और कार्य्यों के द्वारा हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उस वीर-महाकाव्य का मुख्य विषय, उस प्रबल संगीत की टेक तथा वह ध्येय जिसने सारे आन्दोलन में जीवन का संचार किया तथा जनता को प्रोत्साहित किये रखा-यह था कि हिन्दुधर्म को विदेशी गैर हिन्दुओं के शासन की धार्मिक तथा राजनीतिक जंजीरों से मुक्त कराया जाय तथा एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया जाय जो भारतीय सभ्यता और धर्म की रक्षा करने के योग्य हो, जिस में धर्मोन्मत्त विदेशी अपनी हठधर्मी के कारण भारत का सत्यानाश न कर डालें। इस उद्देश्य से न केवल शिवाजी और रामदासजी ही प्रभावित हुए थे वरन उनके पीछे होने वाले वीरों ने इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर कार्य किया और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने में वे सफल भी हुए। सर्वप्रथम शाह जी ने "स्वधर्म राज्य" का स्वप्न लिया। फिर उसके सुपुत्र शिवाजी ने अपने साथियों को अपना परम ध्येय 'हिन्दवी स्वराज्य' बताया; तत्पश्चात बाजीराओ ने हिन्दु-पद-पादशाही की स्थापना का दृढ़ निश्चय प्रकट किया; अंत में बुद्धिमान राजदूत गोविन्दराओ काले ने १७६५ में विजय ध्वनि में कहा—"भारत हिन्दुओं का देश है (हे हिंदुस्थान आहे) यह तुर्कों का नहीं है (तुर्कस्थान नव्हे)। देव और धर्म तथा सचाई और ईश्वर की सेवा के लिये समर्पित हिन्दु-साम्राज्य की स्थापना की इस श्रेष्ठ धारणा और सजीव उद्देश्य ने इस आंदोलन में अंतिम समय तक स्फूर्ति का संचार किये रखा। स्वतन्त्रता के मौलिक सिद्धांत, स्वराज्य तथा स्वधर्म के पर फैलाये एक शताब्दी तक भारतरूपी अंडे को सेते रहे और उसमें से शक्तिशाली जाति का जन्म हुआ जिसने इसके

मनोरथों को सफल बना दिया।

दूसरी परमावश्यक बात, जो हम अपनी इस पुस्तक द्वारा महाराष्ट्र प्रांत से बाहर रहने वाले भारतवासियों के मन में बिठाना चाहते हैं, यह है कि इस कार्य की पूर्ति के लिये एक या दो मनुष्य, या एक पीढ़ी ही नहीं, वरन सारी मरहठा-जाति ही उद्यत हो गई थी। यद्यपि हिन्दू-जाति की इस परतन्त्रता की लड़ाई का प्रारम्भ महाराज शिवाजी और स्वामी रामदास जी के वंशजों ने किया था, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् यह आन्दोलन बन्द न हुआ, वरन उनकी आनेवाली सन्ताने उनके सिद्धान्तों का अनुसरण करती हुई इस आन्दोलन की सफलता के लिये प्राणपण से प्रयत्न करती चली गई। ज्यों २ समय बीतता गया त्यों २ यह आन्दोलन फैलता गया। बड़े २ वीरता के कार्य्य सम्पादन हुए और उनके द्वारा बड़ी २ सफलतायें भी प्राप्त हुईं। योग्य पुरुषों, स्त्रियों, राजनीतिज्ञों, शूरवीरों, राजाओं और राजाओं को राजा बनाये रखने वाले सूरमाओं और लेखकों ने सहस्रों और लाखों की संख्या में इस कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया और इनका यह कार्य एक सौ वर्ष तक यथाक्रम उन्नति को प्राप्त होता गया सारे लोग जरीपटका, हिन्दु धर्म की पताका--सुनहले गेरुआ वस्त्र के झंडे के नीचे कार्य करते रहे।

इसके साथ ही-साथ जब हमारा ध्यान मरहठों के अद्भुत राजनैतिक ज्ञान और शासन-चातुरी की ओर जाता है और हम यह देखते हैं कि मरहठे अपने राज्यों को मिला कर महाराष्ट्र-मण्डल के रूप में परिणत कर देते हैं तो हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि मरहठा-आन्दोलन न केवल सार्वजनिक आन्दोलन ही था, वरन उससे भारतवासियों के जीवन में राजनैतिक विचारों और कार्यक्रम के क्रमिक विकास की ओर भी बड़ी प्रगति की थी। जैसे प्रजातन्त्र राज्य को मरहठों ने स्थापित करके लगभग एक सौ वर्ष तक उसका सुचारु रूप से प्रबन्ध किया वैसे प्रजातन्त्र राज्य का उदाहरण भारतवर्ष के वर्तमान इतिहास में एक भी

नहीं पाया जाता। इस महाराष्ट्र-मण्डल के शासन प्रबन्ध में किसी व्यक्ति विशेष का लेशमात्र अधिकार न था। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों का ध्येय एक ही था। उनके भीतर प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा भाव न था। महाराष्ट्र-मण्डल के प्रत्येक प्रधान कार्यकर्ता का कार्य, उत्तरदायित्व और अधिकार परिमित था। जिन मनुष्यों की शिक्षा-दीक्षा प्रजातन्त्र राज्य की छत-छाया में होती है वे एकतन्त्रात्मक राज्यशासन की अपेक्षा संयुक्तराज्य अमेरिका की शासनप्रणाली की ओर ही अधिक झुकते हैं। वर्त्तमान भारत के इतिहास में प्रजातन्त्र का दूसरा उदारण सिक्ख शासन-विधान में भी मिलता है। किन्तु यह प्रजातन्त्र बहुत छोटे परिमाण में था और इसकी शासनपद्धति भी नियमित नहीं थी, जिसके कारण यह उतने दिनों तक न ठहर सका जितने समय तक महाराष्ट्रमण्डल कार्य करता रहा, किन्तु यह राज्य भी देशभक्ति के उन्हीं उच्च आदर्शों और सिद्धान्तों से परिपूर्ण था, जिनसे कि महाराष्ट्रमंडल। इसीलिये हम बड़े सम्मान पूर्वक इस बात का वर्णन करते हैं कि सिक्ख-राज्य, हिन्दू-प्रजातन्त्र राज्य का एक दूसरा उदाहरण है।

मरहठा-आन्दोलन के राष्ट्रीय तथा पान-हिन्दवी सिद्धांत पर इस पुस्तक में इस लिए अधिक जोर दिया गया है क्यों कि यह आंदोलन जनता की भलाई और समस्त हिन्दुहित के भावों से भरा हुआ था। परन्तु इससे यह ही न समझ लेना चाहिये कि इस आंदोलन में भाग लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति केवल सार्वजनिक भावों और हिन्दू-हितों को ही ध्यान में रखकर कार्य करता था। ऐसा करना हमारी भारी भूल होगी। इस पवित्र धर्मयुद्ध के साथ-साथ मरहठों गृह कलह भी वर्तमान थी। इसका कारण यह था कि मरहठे पहले हिन्दू थे और इसके पीछे मरहठा। इसी कारण हिन्दुओं के भीतर जो सद्गुण और दुर्गुण, शक्ति और निर्बलता तथा सामूहिक और व्यक्तिगत हित के भाव वर्तमान थे उनका कुछ-न-कुछ

अंश उसमें वर्तमान होना स्वाभाविक ही था। मुसलमान अपने पहले आक्रमण में जिन धार्मिक भावों, सामाजिक संगठन और वीरतपूर्ण उत्साह के कारण विजयी हुए थे, वे गुण हिन्दुओं में बहुत ही कम विद्य-थे। इस स्थान पर उस समय के-उदाहरणतया पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी के समय के—हिन्दू और मुसलमानों की त्रुटियों और शक्तियों में तुलना करना उचित नहीं जान पड़ता, किन्तु इस बात का प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उन कारणों को बतला दें, जिनसे मुसलमान विजयी होते रहे और अपनी राजनैतिक सत्ता, राज्य और धर्म को इतना अधिक बढ़ा सके। मुसलमान यह शिक्षा प्राप्त करके निकले थे कि इस्लाम धर्म से भिन्न सब धर्म नर्क में लेजाने वाले हैं, अन्य धर्मों का जड़से सत्यानास करदेना पुण्य हैं चाहे इसके करने में कितने ही अन्याय और निर्दयतापूर्ण कार्य क्यों न करने पड़ें, इसमें कोई पाप नहीं है। इन भावों से प्रेरित होकर कार्य करते हुए वे अपने धर्म को विस्तृत करने में समर्थ हुए इसके विरुद्ध हिंदू स्वभाव से ही शांतिप्रिय थे। "अहिंसा परमो धर्मः" का इन्हें उपदेश मिला था। अपने से विलग हुए भाइयों को, जिन्हें कि विधर्मियों ने जबरदस्ती छीन लिया था, पुनः गले लगाना ये पाप समझने वाले थे। संगठन शक्ति से ये बिल्कुल विहीन थे; अतएव इनपर विजय पाना भी मुसलमानों के लिये बहुत आसान हो गया। यदि हिन्दुओं के भीतर धार्मिक प्रेम, सङ्गठन और शुद्धि की प्रथा वर्तमान होती तो उन लोगों ने भी अपनी मातृभूमि और अपने धर्म के गौरव की रक्षा के लिये ऐसा उत्साह और शक्ति दिखलायी होती कि मुसलमान किसी भी प्रकार उनका सामना न कर सकते।

मुसलमान जब भारतवर्ष में आये तब वे अनुभव करने लगे कि—उनके धर्म में 'जो ईश्वर एक है' का सिद्धांत है उसके कारण उनका धर्म फैल जायगा और उनमें एक अदम्य शक्ति आ जायेगी। इसके साथ ही उन्होंने यह भी अपना कर्तव्य समझा कि वे सारे संसार को अल्ला के राज्य के

आधीन लायें हिन्दुओं की शिक्षा-दीक्षा और व्यवहार इसके विरुद्ध था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और धार्मिक जीवन-निर्वाह इनका स्वभाव बन गया था। उनकी अवस्था अव्यवस्थित और निरीह बन गई थी। तत्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने वाले साधारण भ्रमों में पड़ कर 'किंकर्तव्यविमूढ़' बन रहे थे। ये विदेश यात्रा को धर्मविरुद्ध समझ कर अपना राज्य-विस्तार करने में ही असमर्थ नहीं थे, वरन् सदा इन्हें विधर्मियों के आक्रमणों का लक्ष्य बनना पड़ता था। परमार्थ की प्रबल इच्छा ने इन्हें राजनैतिक और सामाजिक उन्नति से वञ्चित कर रक्खा था, विशाल साम्राज्य छोटे २ टुकड़ों में विभक्त हो गया था और एक ही हिन्दू-सभ्यता के अन्दर होते हुए भी इनके पारस्परिक बन्धन-सूत्र ढीले पड़ गये थे। हिन्दुत्व की वास्तविकता की ओर इनका ध्यान बहुत ही कम था। वर्ण, प्रान्त, सम्प्रदाय आदि विभिन्नताओं ने उन्हें शक्तिहीन बना रक्खा था। भारत के सारे हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म के झण्डे के नीचे लाने की कई बार बड़ी चेष्टायें और प्रयत्न किये गये, किन्तु कोई फल न निकला। अतः वे उन धर्मान्ध, वीरता के लोलुप विदेशियों के सामने न ठहर सके और एक एक करके हारते गये। यदि विचार किया जाय तो व्यक्तिगत रूप में हिन्दू, प्रत्येक उतना ही वीर, बलवान् और धर्म पर शहीद होने वाला था, जितना कि एक मुसलमान। किन्तु मुसलमान ईश्वर और धर्म के नाम पर सङ्गठित, इन पर मरने के लिये सदैव प्रस्तुत और पवित्र धर्मयुद्ध के नाम पर अन्य धर्मावलम्बियों पर आक्रमण कर अपना राज्य बढ़ाने में प्रयत्नशील थे। हिन्दुओं में इन गुणों का सर्वथा अभाव था। किन्तु जब सैंकड़ों वर्ष बीत गये, वे सब एक ही प्रकार के कष्टों से पीड़ित हुए, तब हिन्दुओं की आँखें खुलीं और उन्होंने सचेत होकर इस पाठ को सीखा और अनुभव करने लगे कि हम एक हैं, एक देश के लाल और एक भारत-जननी के सुपुत्र। वे यह भी सोचने लगे कि पहले हम हिन्दू हैं, पीछे किसी विशेष प्रान्त या सम्प्रदाय के। अपनी असङ्गठित अवस्था का, जिसके कारण वे निर्बल

और शक्तिहीन बन रहे थे, अनुभव करके पश्चात्ताप करने लगे। संगठन का भाव जागृत हो उठा। वे व्यक्तिगत विचारों और कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनमें जातीय गौरव और अभिमान के ऊपर उत्सर्ग होने के विचार आने लगे। उन कारणों के समझने का प्रयत्न करने लगे जो मुसलमानों की सफलता के कारण थे। इस कार्य में वे सफल भी हुए। शीघ्र ही राजनैतिक स्वतन्त्रता और एक हिन्दू-साम्राज्य स्थापना के निमित्त पान-हिन्दू-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया। उस समय के आन्दोलनों और हिन्दू-जगत् की राजनैतिक अवस्था पर दृष्टि डालने पर कोई भी व्यक्ति यह कहे बिना नहीं रह सकता कि केवल महाराष्ट्र के ही हिन्दू इस योग्य थे, जो इस आन्दोलन के अगुआ बनकर हिन्दू-धर्म की स्वतन्त्रता की लड़ाई में सफल हो सकते थे। स्वामी रामदासजी ने, सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके महाराष्ट्र लौट आने पर मर्मभेदी, परन्तु आशापूर्ण शब्दों में कहा था—"सारे देश में कोई हिंदू इतना शक्तिशाली और उत्साही नहीं रहा जो इस हिन्दू-जाति और भारत-माता को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करा सके। यदि कुछ आशा है तो केवल महाराष्ट्र निवासियों से।" स्वामी रामदासजी और उनके शिष्यगण इसी आधार और विश्वास से इस निर्णय पर पहुंचे कि पहले महाराष्ट्र की एक दृढ़ और सुसङ्गठित सभा बनाई जाये, फिर हिन्दूराज्य हिन्दू-धर्म, हिन्दू-मन्दिरों और हिन्दू-सिंहासनों को विदेशियों के पञ्जों से मुक्त कराकर भिन्न २ प्रान्तों और सम्प्रदायों में बिखरे हुए हिन्दुओं की सङ्गठित शक्ति से एक ऐसे विशाल महाराष्ट्र-राज्य की नींव डाली जाय, जिससे सदा हिन्दू-धर्म और हिन्दू-जाति की रक्षा होती रहे। किंतु मरहठे या अन्य हिंदुओं के भीतर से वे कारण, जिनसे जातीयता के भावों का पतन हुआ था, पूर्णतः दूर नहीं हो सके थे। अब भी सर्व-साधारण में व्यक्तिगत स्वार्थ और आत्म-गौरव की लालसा किसी न किसी अंश में वर्तमान थी, जो कभी २ गृहकलह का कारण बन जाया

करती थी। किन्तु जहां कहीं हिन्दू-राष्ट्र या हिन्दू-जाति के अनिष्ट होने की सम्भावना दिखाई पड़ती थी लोग शीघ्र ही अपनीं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और स्वार्थ के भाव को दबा देते थे। इस प्रकार पान-हिन्दू आंदोलन के उत्साह, हिन्दुत्व को पराधीनता और विधर्मियों की बेड़ियों से मुक्त कराने की प्रबल इच्छा और देशभक्ति के उन्माद ने उनके तुच्छ स्वार्थों को दबा रक्खा और इन्होंने अपनी स्वाभाविक त्रुटियों का परित्याग कर दिया। साथ ही वे इस योग्य भी बन गये कि अपने राष्ट्र और धर्म के हित के लिये सार्वजनिक इच्छानुसार काम करें। यह गुण बड़ी शीघ्रता मरहठों के भीतर फैला और वे मुसलमानों से भी इस गुण में बहुत अधिक बढ़ गये और सारे भारतवर्ष में यह विचार फैलने लगे कि व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर राष्ट्रीय और हिंदू-जातीय हितों की प्रबल कामना रखने वाले केवल मरहठे ही ऐसे हैं जो एक हिन्दू-साम्राज्य स्थापित कर के उसे भली भांति चला सकते हैं।

निस्सन्देह हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना मरहठा-जाति की वीरता और प्रयत्न के कारण हुई, इस लिये इस साम्राज्य को हमें हिन्दू पद-पादशाही के साथ २ मरहठा-पद-पादशाही भी समझना चाहिये। हिन्दू-धर्म से घृणा करने वालों के भयानक आक्रमण को रोक कर उन्हें पीछे हटाने और विदेशियों के आक्रमणों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने की शक्ति तब तक हिन्दुओं में नहीं आ सकती थी जब तक कि वे संगठित होकर एक सुदृढ़ साम्राज्य अर्थात हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना न कर लेते। इस समय महाराष्ट्र के अतिरिक्त हिन्दूओं का कोई भी ऐसा दृढ़ केन्द्र या कोई आधार नहीं था जो हिन्दू-जाति को दासता और पराधीनता की बेड़ी से मुक्त करा सकता। यद्यपि मरहठों में अपने देश के प्रति भक्ति और उत्साह मुसलमानों से भी अधिक था तथा संगठन, कूटनीत और हिन्दूधर्म की स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने की महत्वाकांक्षा भारत की अन्य जातियों से अधिक थी, उस पर भी अंग्रेजों

की अपेक्षा उनकी देशभक्ति का आदर्श, जनसमुदाय के हित का विचार और संगठन कम था। इसी कारण उन्हें अंत में अंग्रेजों से पराजित होना पड़ा। यह सब होते हुये भी मरहठे हिन्दु-आंन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में रखने और आप को हिन्दु-पद-पादशाही का चिन्ह और कार्यालय मानने में न्याय-युक्त ही थे। सबसे पहले इन्होंने ही साहस किया और इतनी सफलता प्राप्त की, इतना स्वार्थ त्याग और इतना आत्मसमर्पण किया। इसलिय यदि हम निष्पक्ष होकर विचार करें तो ऐसी दशा में जो उन लोगों ने सारे भारतवर्ष को अपने अधीन और अपनी ध्वजा के नीचे लाने का प्रयत्न किया यह बिल्कुल उचित ही था उन्होंने अपने ही ऊपर हिन्दू-धर्म की रक्षा के उत्तरदायित्व के भार को लिया। उनका ऐसा करना पान-हिन्दू दृष्टि से अत्युत्तम था, क्योंकि जो कुछ हम संक्षेप में लिख आये हैं, उससे यही सिद्ध होता है कि उनके भीतर हिन्दूधर्म की रक्षा करने की शक्ति वर्तमान थी। यदि हिंदू-जाति के अन्तर्गत कोई दूसरा सम्प्रदाय इसी प्रकार साहस करके इतनी सफलता प्राप्त करने के पश्चात् मरहठों को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिये कहता तो पान-हिन्दू दृष्टि से वह ऐसा करने में न्याय ही करता। यह बात अधिक महत्व की नहीं कि हिन्दूराज्य या हिन्दू पद-पादशाही राजपूतों, सिक्खों, तामिल अथवा कोलों या बंगाली आदि किस की पादशाही है। यह पादशाही चाहे किसी की होती, जिस किसी ने सामाजिक, जातीय आदि किसी रूप में हिन्दू-धर्म की रक्षा का प्रण करके समस्त भारत के हिन्दुओं को एक विशाल हिन्दू-साम्राज्य छत्र साया में लाने का प्रयत्न किया होता, वही समस्त भारतीयों की कृतज्ञता और श्रद्धा का पात्र अवश्य होता।

२.
सब से उत्तम मार्ग

*"उपाधीचें काम ऐसें । कांही साधे, कांही नासे"—
"कांही दिवस भयरहित सदो‍दित स्वराज्य चालविलें
दरिद्र अटकेपार जनांचे ज्यांनीं घालविलें
जलचर हैदर नवाब इंग्रत रण करतां थकले
ज्यांनी पुण्याकडे विलोकिले ते संपत्तीला मुकले—प्रभाकर

यदि मरहठों ने, लोगों को भुजबल से अधीन करके प्रजातन्त्र-राज्य स्थापित करने की जगह, उनके सामने साम्य-भाव का आदर्श उपस्थित करके, एक ऐसा हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया होता, जो सर्वसाधारण हिन्दूमात्र के नाम से पुकारा जाता और जिसमें बंगाली, पंजाबी, मरहठा, राजपूत, ब्राह्मण और शूद्र आदि का भेद भाव उड़ा कर एक मात्र हिन्दुत्व की भावना पैदा की होती तो क्या इससे उनके स्वदेशानुराग का इससे अधिक परिचय न मिलता? यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो वास्तव में यही असली प्रजातंत्र-राज्य होता और इसके द्वारा मरहठों की देशभक्ति और भी ऊँची समझी जाती। किंतु यदि हिंदुओं के भीतर इस प्रकार एकता के सूत्र में बंधने का गुण वर्तमान होता तो मुसलमान सिंध को कदापि पार न कर सकते। हमें प्रत्येक घटना को उसके वास्तविक रूप में देखना चाहिये और उस जाति

---

* कठिन कार्य कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ असफल भी रह जाते हैं। —रामदास

थोड़े दिन तक भयरहित होकर अच्छी तरह से स्वराज्य चलाया। प्रजा की निर्धनता को अटक से पार भगा दिया। मकर के समान हैदर, नवाब और बड़े २ फरंगी लड़ते २ थक गये। जिन्होंने पूना की ओर ख्याल किया वे सम्पतिहीन हो गये। —प्रभाकर

के कार्यक्रम का निर्णय उस समय की परिस्थितियों के प्रकाश में ही करना चाहिये। यह नियम है कि कोई राष्ट्र या कोई व्यक्ति अपने समय की वर्तमान परिस्थितियों की बिल्कुल अवहेलना नहीं कर सकता। उसे विवश होकर उन परिस्थितियों के अधीन होकर चलना ही पड़ता है। यदि कोई कहे कि मरहठों द्वारा चलाए गए हिंदू-आंदोलन के आदर्श में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी तो ऐसा कहना केवल भ्रम और भूल है और ऐसा दावा करना सच्चाई का गला घोंटना है। मरहठे भी आदमी ही थे और आदमियों के साथ ही रहते थे; वे न देव ही थे और न देवों के मध्य रहते थे। इसीलिये हमने कहा है कि उनमें भी कुछ राजनैतिक त्रुटियां थीं जो प्रायः सभी हिन्दुओं में पाई जाती हैं। यही कारण है कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कोई और विशेष देशभक्तिपूर्ण साधन नहीं सोच सके। हिंदुओं के अन्तर्गत कोई दूसरा सम्प्रदाय भी ऐसा न कर सका। तो भी जितना मरहठों ने कर दिखाया था उतना भी किसी और से न बन सका था। कहना सरल है, परन्तु किसी कार्य का करना कठिन होता है। किसी मनुष्य को साम्यभाव दिखलाकर उसे मनाने के लिये यह परमावश्यक है कि जिस मनुष्य को हम मनाना चाहते हैं वह निष्पक्ष होकर हमारी बातों को सुन कर उस पर ध्यान दे, और यदि उचित समझे तो उसे स्वीकार करे। और यदि मरहठे दूसरों को अपनी ओर मिलाने के लिये उनको मनाने पर ही संतोष करते तो क्या हिंदू राजे स्वेच्छानुसार अपने छोटे २ राज्यों और पदों को हिन्दू-पद-पादशाही के हित के लिये, जिसमें उनका भी मरहठों के बराबर ही अधिकार और उत्तरदायित्व होता, छोड़ कर अपने अस्तित्व को मिटाने के लिये कभी उद्यत हो पाते। हम इस बात को दावे से कह सकते हैं कि कोई भी हिंदू-राजा मरहठों की यह बात मनाने के लिये तैयार न होता। यह स्वदेशानुराग उन राजाओं के भीतर कहां से आ सकता था? गद्दी पर बैठने से पहले जिन राजाओं का राजसिंहासन कई बार गृह-कलह के

झगड़ों से पैदा हुए रक्त-द्वारा सींचा जा चुका था, जिन्होंने अपने गृह-कलह के निपटारे के लिये मुसलमान और अंगरेजों को आमंत्रित किया था, जिन्होंने वेदों को कुचलने वाले मुगलों के सामने अपना सिर झुकाना अपने भाइयों के सामने सिर झुकाने से श्रेष्ठ समझ रखा था, उन हिन्दुओं से इस प्रकार की शुभ कामना की आशा रखना मूर्खता नहीं तो और क्या थी। साथ-ही-साथ जिस समय देश की राजनीति और राष्ट्रीय एकता इतनी नीच दशा को प्राप्त हो गई हो, उस समय किसी से ऐसी आशा करना कि वह सहसा राजनैतिक विचारों और भावों के उच्च शिखर पर पहुंच जायगा, भूल है। दूसरी बात यह है कि जिस कार्य के पूर्ण करने का भार सब लोगों के ऊपर बराबर है उसकी पूर्ति न करने के लिये अपनी में से किसी एक व्यक्ति या जाति को दोषी ठहराना अन्याय ही नहीं बल्कि अनुचित भी है। यदि यह कहा जाय कि हिंदू-साम्राज्य के प्राप्त करने के आदर्श अच्छे नहीं थे तो इस दोष के अपराधी और उत्तरदायी भारतवर्ष के हिंदूमात्र हैं, न कि कोई व्यक्ति-विशेष या समुदाय विशेष। दूसरे इसके अधिक उत्तरदायी वे लोग हैं जिन्होंने हिंदू-पद-पादशाही के प्राप्त करने और परतंत्रता की बेड़ी को चूर्ण करने में इतना भी नहीं किया जितना कि मरहठों ने कर दिखलाया था।

यह भी नहीं कहा जा सकता हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने के लिये दूसरे हिन्दूओं के पास जा कर उन से इस आंदोलन में भाग लेने के लिये बिल्कुल ही नहीं कहा गया। ऐसा किया गया और बहुत से देश-भक्तों ने इस पुकार को सुनकर इसमें भाग भी लिया। उत्तर और दक्षिण के कई एक राजपूत बुन्देला, जाट और दूसरे हिंदू भाई कार्यक्षेत्र में उत्तर पड़े। हम इस प्रकार के उदाहरणों का वर्णन पहले कर आये हैं उनके विषय में अपनी टीका टिप्पणी भी लिख आये हैं, इसलिये उन्हें पुनः उद्धृत करके हम अपने पाठकों को उकताना उचित नहीं समझते।

यदि राजनैतिक विचारों के विकास और शिक्षा को पूर्ण अवकाश

मिला होता और इनका प्रचार हिंदुओं में भली भांति हुआ होता तो निस्संदेह महाराष्ट्र-मंडल बढ़ कर हिंदू-साम्राज्य या हिंदू प्रजातंत्र राज्य बन गया होता। ज्यों २ महाराष्ट्र-मंडल बढ़ता गया वैसे २ वह धीरे-धीरे उदार बनता गया और उसके भीतर उत्तर और दक्षिण के जो कई छोटे और बड़े राज्य सम्मिलित हो गये थे, उन्हें अपने प्रजातंत्र राज्य में उचित स्थान और उत्तरादायित्व का भार भी देता गया। वे प्रायः हिन्दु राज्यों को अपने साथ मिलाने के प्रयत्न करते रहते थे ताकि उनकी सहायता से एक महान प्रजातंत्र की स्थापना करने में सफल हो सकें। वास्तव में नाना फड़नवीस के पश्चात्, अर्थात सन १८०० में सारा भारतवर्ष पुनः हिंदुओं के हाथ आ गया था। नेपाल से लेकर ट्रावनकोर तक सारा देश हिंदू राजाओं के अधीन हो गया था; जिनका प्रबन्ध अथवा पथ-प्रदर्शन कुछ न कुछ अंशों में महाराष्ट्र-मंडल द्वारा होता था। यदि इङ्गलैंड जैसे देश ने जो राष्ट्रीयता, देशभक्ति और सामाजिक संगठन में महाराष्ट्र से बढ़ा हुआ था, ऐसे कुसमय में भारतवर्ष के इतिहास में हस्तक्षेप न किया होता तो निस्संदेह हिन्दुस्थान का यह हिन्दू राज्य प्रांतीय राज्य न रह कर, एक सुसंगठित और दृढ़ हिन्दू-संयुक्त सम्राज्य हो गया होता।

जिस प्रकार हिन्दुओं ने, विशेषतः मरहठों और सिक्खों ने मुसलमानों से हारते २ उनके दांव और उपायों को समझ कर ऐसी नीति का अवलम्बन किया कि मुसलमान किसी प्रकार उन पर विजय नहीं प्राप्त कर सके और उनके अच्छे से अच्छे शस्त्र मरहठों पर बेकार रहे, उसी प्रकार थोड़ा ही और समय बीतने पर वे युरोपियनों के सारे गुणों को सीख कर इस योग्य हो गये होते कि जापान की तरह हिन्दुस्थान में एक हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करके भारत में युरोपियनों की दाल न गलने देते !

मरहठे इन युरोपियनों की युद्धकला का वह महत्वपूर्ण अंश भली

भांति ताड़ गये थे जिसके कारण कि वे सफल हो रहे थे और इस प्रकार के सैनिक ड्रिल और डिसिप्लिन को उन्होंने आत्मसात कर लिया था। उन्होंने महादजी सींधिया तथा बख्शी आदि अपने सुयोग्य नेताओं की अध्यक्षता में, इन युरोपियनों द्वारा प्रयुक्त हथियारों को चलाना और बनाना भी अच्छी तरह सीख लिया था जिससे यह सिद्ध होता है कि महाराष्ट्र-मण्डल, जो उन्नत होता हुआ हिन्दू-साम्राज्य में परिणत हो चुका था, उन सब गुणों को ग्रहण कर लेता और उनको विकसित भी कर पाता जो कि उन युरोपियनों में पाये जाते थे। जिस प्रकार मरहठों ने मुसलमानों को पराजित किया था उसी प्रकार वे भारत में एक संयुक्त राष्ट्र या जर्मन साम्राज्य की तरह हिन्दुओं की सङ्गठित रियासतों के आकार में एक हिन्दू-साम्राज्य को स्थापित करने में सफल हो जाते।

परंतु हम इन कल्पनाओं को एक ओर रखकर उन सच्ची घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिनकी साक्षी इतिहास देता है। उन घटनाओं का मूल्य, उस समय के आदर्शों और परिस्थितियों के अनुसार आंकने का प्रयत्न करेंगे। इस एतिहासिक परिणाम से यदि हम विचार करें तो भारतवर्ष का कोई भी सम्प्रदाय इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि वह शीघ्र ही हिन्दू-प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करने में असफल रहा है। यदि हम शिवाजी को दोषी ठहराना चाहें तो केवल उनपर इतना ही दोष आरोपित कर सकते हैं कि वह मोटर पर नहीं चलते थे, और महाराज जयसिंह को इसलिये दोषी ठहरा सकते हैं कि उन्होंने अपने आंदोलन को समाचार पत्रों द्वारा नहीं फैलाया। इस प्रकार के अपराधी या तो भारतवर्ष के हिंदू मात्र हैं या कोई भी नहीं हैं। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि मरहठों के अतिरिक्त हिंदुओं के किसी संप्रदाय के लोगों में इतना उत्साह नहीं आया था, जो अपने प्रान्तीय भेद-भावों को छोड़ कर हिन्दूजाति के हित में लीन हो जाते। केवल मरहठे ही देश को दासता की बेड़ी से मुक्त कराने के लिये प्राणपण से प्रयत्न

कर रहे थे। वे देशभक्ति और राष्ट्रीयता से भरे हुये थे। किन्तु वे अभी तक उन सब गुणों को भली भांति नहीं जानते थे जिनका जानना देश-भक्तों के लिए परमावश्यक है। इन गुणों की प्राप्ति के मार्गों पर वे बड़ी शीघ्रता से जा रहे थे। यदि हम भारतवष के भिन्न२ राज्यों की शक्तियों पर एक एक करके विचार करें और उस समय के हिन्दुओं के विचारों पर ध्यान दें तो हमें भली-भांति विदित हो जायगा कि केवल महाराष्ट्र वासी ही ऐसे थे जिनमें हिन्दु-जीवन का प्रसार था, और केवल महाराष्ट्र मण्डल ही एक ऐसी शक्ति थी, जिसके नीचे भारत की सारी हिन्दू-शक्तियाँ एकत्रित होकर बलवान् से बलवान् शत्रुओं को परास्त करने में समर्थ हो सकती थीं। यदि हम पान-हिन्दू सिद्धांत की दृष्टि से देखें तो हम महाराज शिवाजी और स्वामी रामदासजी के वंशजों के उन सिद्धांतों और प्रयत्नों को भी न्याय-संगत मानेंगे कि सब महाराष्ट्र को हिन्दू-धर्म के नीचे एकत्रित करके सबसे पहिले एक स्वतंत्र साम्राज्य दक्खिन में स्थापित किया जाय और जब वह दृढ़ हो जाय तो हिन्दू-धर्म की स्वतंत्रता की लड़ाई को महाराष्ट्र के बाहर उत्तर में नर्मदा से अटक और दक्षिण में तुङ्गभद्रा से लेकर समुद्र तक विस्तृत किया जाय और ज्यों २ वे अपने राज्य को बढ़ाते जायँ त्यों २ उसके अन्तर्गत हिन्दू-शक्तियों को सङ्गठित करते जायँ और उसे बढ़ाते २ अन्त में हिन्दू-साम्राज्य बना दें। वास्तव में यह कार्य में लाने योग्य, हिन्दुओं को मुक्त कराने और हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने का सर्वोत्तम मार्ग मालूम होता है। किन्तु यदि मरहठे इस उपाय को काम में लाकर सफलता प्राप्त करना चाहते, जैसे कि हम पीछे कह आये हैं, उस पर यदि ध्यान दें तो प्रकट हो जायगा कि ऐसा करने पर उन्हें कुछ और भी हिन्दू-राजाओं से घोर शत्रुता करनी पड़ी होती। इनमें से कुछ लोग अपने गौरव को बिल्कुल भूल गये थे और मुसलमानों की दासता की बेड़ी में रहने ही में अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। उन्हें नव्वाबों, निज़ाम और दिल्ली के बादशाह की अधीनता में

गुलाम और पराधीन कहलाने में कुछ भी लज्जा अनुभव न होती थी वरन् इसी बात में वे अपना गौरव समझते थे। परन्तु यदि मरहठे, जो कि स्पष्ट उनके सामने हिंदू जाति के मान और अधिकारों के लिये लड़ रहे थे, उनको हिंदू-साम्राज्य के प्रति भक्ति प्रदर्शन करने के लिये कहते तो यह बात उनके लिये असह्य हो जाती। जब मरहठों के अश्वारोही उन्हें, जिन्हें कि वे स्वभावतः मुसलमानों के मित्र समझते थे, दण्ड देते तभी वे अपने आपको धन्य मानते थे। मरहठों के वे लोग इस समय तक शत्रु बने रहते, जबतक कि उन्हें महाराष्ट्र हिंदू साम्राज्य का प्रभुत्व स्वीकार करने पर विवश न कर दिया जाता या उनके स्वामी मुसलमान शासक मरहठों से हार कर उनकी अधीनता स्वीकार न कर लेते थे। वे अपनी इच्छा से मरहठों के अधीन होना कभी भी पसन्द नहीं करते थे। कुछ ऐसे हिन्दू-राजा भी मरहठों से लड़े जो विदेशी शत्रुओं का नाम भारत-वर्ष से मिटा देने के लिए उतने ही उत्सुक थे जितने कि मरहठे। उन पर भी पान हिन्दू-आन्दोलन का प्रभाव पड़ा हुआ था। ये लोग इस बात पर हठ कर रहे थे कि मरहठों को क्या अधिकार है कि वे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की लड़ाई के मुख्य कार्यकर्त्ता बनें और दूसरे राजों को अपने साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करें। अब प्रश्न यह उठता है कि मरहठों के अतिरिक्त दूसरे राजाओं या जातियों ने अपने आपको भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति स्वीकार कराने का प्रयत्न क्यों न किया ? इनमें कुछ लोग ऐसे भी थे जिनके पूर्वजों ने हिन्दू धर्म की रक्षा भारतवर्ष के बहुत बुरे दिनों में की थी। इस समय जब कि मुग़ल राज्य की अवनति हो रही थी, सबको अपनी योग्यतानुसार अपना २ हिन्दू राज्य बनाने का सुअवसर मिला था। इसलिये मरहठे भी अपने लिये एक राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। भला वे ऐसा क्यों न करते ? दूसरे राजों का दावा उचित ही था, किन्तु मरहठों का विचार भी तो अनुचित न था। पान-हिन्दू दृष्टि से प्रत्येक हिन्दू को ऐसा

करने का पूर्ण अधिकार था, किन्तु साथ ही साथ सब का यह कर्त्तव्य था कि मुसलमानों को अपनी शक्ति अनुसार मार भगाते। और यदि वे हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने में असफल भी रहते तो भी उन्हें यथासंभव असंख्य छोटे बड़े स्वतन्त्र हिन्दू राज्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिये था। परन्तु जब उनके छोटे २ राज्यों के सामने एक साम्राज्य के रूप में सङ्गठित होने का प्रश्न छिड़ा तो वे उस समय की राजनैतिक अद्भुत परिस्थितियों के अधीन होकर एक दूसरे की योग्यता और नेकनीयती के सम्बन्ध में आशङ्का करने लगे और आपस ही में लड़ पड़े। मरहठे सोचने लगे कि उन्होंने मुसलमानों, अंग्रेज़ों और पुर्तगेज़ों से लड़ कर हिन्दू-धर्म की रक्षा की है; इसलिये वे शक्तिशाली हैं और उनमें ही यह योग्यता है कि हिन्दुओं के प्रमुख बनकर रहें। दूसरे लोग सोचने लगे कि यह कोई उपयुक्त युक्ति नहीं। यद्यपि मरहठों ने विदेशियों को हरा कर हिन्दू-धर्म की रक्षा की है तथापि जो हिन्दुओं से और विशेषत; हिन्दू-राजाओं से चौथ वसूल करके उन्हें अपने अधिकार में रखना चाहते हैं यह उनकी अनुचित और अनाधिकार चेष्टा है। दोनों पक्षों का ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था। मरहठों का ऐसा सोचना इसलिये स्वाभाविक था क्योंकि वे इतनी अधिक सफलता प्राप्त कर चुके थे और अभी तक सफलतायें प्राप्त करने की आकांक्षायें भी कर रहे थे, वे शुद्ध-हृदय से विश्वास करने लगे कि हिन्दू-धर्म का अस्तित्व और हिन्दुओं की राजनैतिक और पारिवारिक स्वतन्त्रता तभी स्थिर रह सकती है यदि वह अपनी शक्ति को सङ्गठित करके एक केंद्रीय राज्य की स्थापना करलें। और इस केंद्रीय राज्य की स्थापना का यह अर्थ था कि प्रत्येक हिन्दू उस बड़े साम्राज्य के हित के लिये उसकी अधीनता स्वीकार करे और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग कर दे। उनका यह सोचना भी उचित ही जान पड़ता है कि जिस हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना उन्होंने विदेशियों से लड़कर अपनी वीरता और बाहुबल द्वारा की थी उसका प्रबन्ध दूसरों के हाथ में देना उचित नहीं है। सभी लोग इस बात को

जानते थे कि हिन्दुओं में मरहठे सबसे अधिक शक्तिशाली हैं और दूसरों में इतना सामर्थ्य भी नहीं है कि बिदेशियों के आक्रमणों को रोक कर इतने बड़े राज्य का प्रबन्ध कर सकें। इसलिये मरहठों के अधिकार के सम्बन्ध में उनका प्रश्न करना सर्वथा अनुचित था। इस प्रकार इन परिस्थितियों में यह परमावश्यक हो गया कि हिन्दुओं में जो सबसे शक्तिशाली हो वही हिन्दू-साम्राज्य का स्वामी बने परिणामतः हिन्दू-राजे हिन्दू-हित को दृष्टि में न रख कर, अपने स्वार्थवश, मरहठों से शक्ति हीन होने पर भी, हिन्दू-सामाज्य-पति बनने की इच्छा करने लगे। उनसे मरहठों की लड़ाई अनिवार्य हो गई। राष्ट्रीय संगठन और राजनैतिक एकता के आन्दोलन को सफल बनाने के लिये, देशभक्ति की तरंग में उन्मत्त हो कर राष्ट्रीय हित के लिये, मनुष्य व्यक्तिगत हित की ओर ध्यान न देकर कभी २ ऐसे भी कामों को करने के लिये विवश हो जाता है जो उसकी इच्छा के बिल्कुल विरुद्ध होते हैं।

पहले मरहठों की बात ही लीजिये। वहां भी कुछ जमींदार, सरदार और राजकुमार ऐसे वर्तमान थे जो कि दासता की बेड़ी को काटने के लिये उत्सुक थे और कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें दासता की दशा में पड़े रहने में ही आनन्द आता था। जब महाराज शिवाजी ने महाराष्ट्र के संगठन का कार्य प्रारम्भ किया तब ये दोनों ही प्रकार के लोग उनके और उनके साथियों के विरोध में उठ खड़े हुए क्योंकि इन्हें शिवाजी की नीयत के सम्बन्ध में विश्वास नहीं था। बाद को ये लोग यह कहने लगे कि राष्ट्रीय संगठन औरहिन्दू एकता के बहाने भोंसला स्वयं बड़ा बनना चाहता है। वे लोग बहुधा यह प्रश्न किया करते थे कि यदि शिवाजी की वास्तव में यही इच्छा थी कि एक हिन्दू-राज्य स्थापित हो तो उन्होंने स्वयं किसी दूसरे राजा को महाराजा स्वीकार करके उसकी अधीनता में क्यों नहीं काम किया। यदि भोंसला का भी यह उद्देश्य है तो वह हमारे अधीन क्यों नहीं हो जाता, हमें ही

को क्यों अपने अधीन करना चाहता है।

नीच और दास-वृत्ति में रहने वाले लोगों ने मरहठों की गर्व-भरी ललकार का सामना करने के लिये मुसलमानों को आमन्त्रित करने या उनकी सेना में मिल जाने में तनिक भी आनाकानी न की। लेकिन वे लोग, जो इनके समान नीच नहीं थे, बल्कि यह सोचा कर थे कि शिवाजी का इस आन्दोलन का प्रमुख होने का गर्व करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है उन्होंने ऐसा मार्ग ग्रहण किया जो कि कम आपत्तिजनक था अर्थात् वे स्वयं उनसे लड़ने के लिये संग्राम में आ डटे। इन्हीं कारणों से महाराज शिवाजी को कई बार अपने भाइयों के विरोध में तलवार उठानी पड़ी। इतिहास शिवाजी को उनके इस कार्य के लिये दोषी नहीं ठहरा सकता और इस कार्य के कारण उसे यह भी साहस नही होता कि वह महाराज शिवाजी को हिन्दू धर्म का रक्षक, मरहठा राज्य का संस्थापक और हिन्दुओं का सुधारक तथा शिरोमणि न कहे। जातीय हित के लिये यह परमावश्यक था कि छोटे २ राज्यों को तोड़ कर एक बड़े राष्ट्र का निर्माण किया जाता। जिन लोगों की यह इच्छा थी कि भारतवर्ष के हम प्रमुख बनें उन्हें यह उचित था कि शिवाजी के विप्लवकारी बनने के पहले ही वे लोग मुसलमानों के विरोध में उठ खड़े होते, और जिन कामों को शिवाजी ने किया उनको वे लोग पहले ही सम्पादित करके हिंदू-राज्य की स्थापना करने में शिवाजी से अपने को अधिक योग्य प्रमाणित कर देते। ऐसा होने पर हिन्दू-इतिहास उन्हें भी शिवाजी और उनके साथियों की भांति हिन्दू आन्दोलन का प्रमुख मान लेता। चूंकि अन्य मरहठे सरदार इस कार्य को न कर सके थे अतएव उनके लिये यही उचित था कि वे शिवाजी को इस कार्य की पूर्ति का अवसर देते और इस आन्दोलन का उन्हें उत्तरदायी बना देते, साथ ही उन्हें अपने प्रमुख बनने की लालसा का भी परित्याग करके शिवाजी को सारे महाराष्ट्र का राजा बना देना चाहिये था।

जिन अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने से महाराज शिवाजी को अपने मरहठे भाइयों के विरुद्ध तलवार उठानी पड़ी, जिनके कारण महाराज रणजीतसिंह ने कई एक सिक्ख मिसलों को दण्ड देकर अपनी अधीनता स्वीकार कराई, उन्हीं कारणों के उपस्थित होने पर महाराष्ट्र मण्डल को भी हठी हिंदू राज्यों को अपने अधीन करने में शस्त्र उठाना पड़ा। और जैसे महाराज शिवाजी तथा रणजीतसिंह अपने उन कार्य्यों के लिये दोषी नहीं ठहराये जाते वैसे ही महाराष्ट्र-मण्डल भी इसके लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मरहठों के विरोधियों में भी केवल एक ही दो ऐसे हैं जो कि मरहठों से विरोध करने के लिये दोषी ठहराये जा सकते हैं उनमें से बहुतेरे ऐसे थे जो हिंदू हित को ध्यान में रखकर एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे। उनका मरहठों के प्रति शस्त्र उठाना कोई अनुचित न था क्योकि वे स्वयं हिंदू हित को ध्यान में रखकर एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे। और अपने आपको स्वतन्त्र समझते थे। किन्तु हिंदू जाति, हिंदू सभ्यता तथा हिंदू धर्म की रक्षा के लिये एक विशाल हिंदू साम्राज्य की आवश्यकता थी, चाहे यह राज्य किसी प्रणाली का होता और भारत के किसी प्रांत या किसी जाति द्वारा इसका शासन होता। यदि इस कार्य की पूर्ति के लिये मरहठे अग्रसर हुए और उन्हें अपने धर्मावलम्बियों के प्रति शस्त्र उठाना ही पड़ा तो इसके लिये वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते। जैसा कि पहले कह आये हैं कि इन दोषों का उत्तरदायित्व या तो सभी हिंदुओं पर आता है या किसी पर भी नहीं, अतः हम केवल मरहठों को ही किसी प्रकार से भी दोषी नहीं ठहरा सकते। उन्होंने अपने बाहुबल द्वारा एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया, इसलिये उनका यह आशा करना उचित ही था कि अन्य हिंदू-सम्प्रदाय अपनी २ इच्छाओं को छोड़कर उन्हें अपना प्रभु समझते। यदि ये ऐसा करने के लिये उद्यत नहीं थे तो उन पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार कराने का मरहठों को सर्वथा अधिकार था।

३

प्राचीन और वर्तमान इतिहास के प्रकाश में सिंहावलोकन

"ज्या प्रकारें वानरांकरवीं लंका घेवविली त्या प्रकारे हे गोष्ट झाली सर्व कृत्यें ईश्वरावतारसारखीं आहेत. जे सेवक हे पराक्रम पाहत आहेत त्यांचे जन्म धन्य आहेत. जे कामास आले त्यांनी तो हा लोक आणि परलोक साधिला। हे ततुंद, हे मर्दुमकी, या समयांत हे हिमंत, ही गोष्ट मर्नीहि कल्पवत नाहीं!"*
—ब्रह्मेंद्र स्वामींचा पत्रव्यवहार।

यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने दूसरे सभी राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाले तथा सम्पूर्ण राज्य की बागडोर संभालने वाले राजा के लिये भारत के राज्य-मुकुट से अपने मस्तक को सुशोभित करने तथा चक्रवर्तित्व की उपाधि को ग्रहण करने के अधिकार को न्यायसंगत तथा परम पवित्र भी माना है। चक्रवर्ती राज्य की प्रणाली में कुछ त्रुटियां तो अवश्य थीं किंतु इससे लाभ भी विशेष थे। हमारे पूर्वजों को यही उत्तम साधन सूझा था जिसके कारण राष्ट्रीय संगठन का विकास हो सकता था, जिसके कारण सारी हिंदू जाति की राजनैतिक तथा

---

* जिस प्रकार वन्दरों द्वारा लंका को जीता उसी प्रकार यह बात हुई। सब काम अवतारों के समान हुए। जो सेवक इस पराक्रम को देख रहे हैं उनका जन्म धन्य है और जिन्होंने अपने जीवन का बलिदान किया उन्होंने इहलोक और परलोक दोनों साध लिये। उस समय के वीरों की युद्धकला, वीरता और साहस की हम आज कल्पना भी नहीं कर सकते।
—ब्रह्मेंद्र स्वामी का पत्र व्यवहार।

सार्वजनिक समानता तथा सार्वजनिक जीवन में एकता की शिक्षा-दीक्षा दी जा सकती थी। देश के शासन की बागडोर लेने के लिये केवल वे ही लोग अग्रसर हुआ करते थे, जिनमें राजनैतिक निपुणता और सङ्गठन करने की दक्षता रहती थी। यदि कोई पुरुष जिसके द्वारा देश और धर्म के अहित होने की सम्भावना रहती थी, राजकुल में जन्म लेने के कारण इस पद के लिए प्रयत्न करता था तो देश के धार्मिक और योग्य पुरुष उसका साथ सदा छोड़ के लिये दिया करते थे और केवल योग्य व्यक्ति ही को सम्राट् के पद पर सुशोभित करने के पक्षपाती रहा करते थे। यही कारण था हिन्दू राजनैतिक शक्ति का केन्द्र हस्तिनापुर, पाटलीपुत्र, उज्जैन, प्रतिष्ठाथान और कन्नौज इत्यादि भिन्न २ स्थानों और प्रान्तों में बदलता रहा। कभी कोई राजनैतिक सङ्कट आ पड़ता तो उस समय सब विश्वविजेता राजा को अपना चक्रवर्ती महाराजा स्वीकार कर लिया करते और अपनी पिछली सारी शत्रुताओं को भूल जाया करते थे, क्योंकि लोगों का यह दृढ़ विश्वास हो जाया करता था कि इसी सम्राट के द्वारा भारत देश और हिन्दू-धर्म की रक्षा हो सकती है। इस बात को लोग कभी ध्यान में नहीं लाते थे कि एक बार इसने उन्हें परास्त किया था, इसलिए उसका विरोध करना चाहिये, प्रत्युत् वे लोग उसका स्वागत करते थे। उन्हें यह ज्ञान था कि उसने चक्रवर्ती बनने के लिए जो उन्हें परास्त किया है इससे उनकी और उसकी शक्ति की परीक्षा हो गयी और यह सिद्ध हो गया कि वह देश और धर्म की रक्षा के लिए उनसे अधिक उपयोगी व्यक्ति है और उसके द्वारा भारतवासियों का अधिक कल्याण होगा।

हर्ष और पुलकेशिन ने जब तक अपने सांझे सहधर्मी प्रतिद्वन्दियों को अपने अधीन न किया, तब तक वे क्रमशः उत्तर और दक्षिण में किसी भी प्रकार अपने साम्राज्य की उत्तम व्यवस्था न कर सके। इनके प्रति-द्वन्दी राजाओं में बहुत से ऐसे थे जो इनके जाति या कुल के थे। इनके

परिवार या जाति वालोंने भी जो अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़े, कोई निन्दित कर्म नहीं किया क्योंकि यह मानव प्रकृति ही है। वे भी शूरवीर थे यही कारण है कि उन्होंने परतन्त्रता के सामने सिर झुकाना बुरा समझा।

हर्ष और पुलकेशिन ने दो शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करके जो राष्ट्रीय सेवायें अपने देश के प्रति की हैं उनके लिये प्रत्येक हिन्दू को उनके प्रति सदैव कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। इन दो राज्यों की स्थापना ने हिन्दुओं के राजनैतिक बिचारों को दृढ़ और उनके जीवन को कर्मशील बना दिया। कुछ समय पश्चात् अपनी वीरता की तुलना करने के लिए हर्ष और पुलकेशिन रणभूमि में उतर पड़े। युद्ध में प्रस्तुत हुए इनके युद्ध कौशल की तुलना इस प्रकार निष्पक्ष भाव से करनी चाहिए जैसे पिता अपने पुत्रों की, अथवा गुरु अपने शिष्य की तुलना इस दृष्टि से करता है कि समय आ पड़ने पर कौन अपने प्रतिद्वन्दी पर विजय पा सकता है।

हिन्दुओं के भीतर जो इस प्रकार के विचार—कि हम सब एकही के वंश केहैं, हमारी एकही पवित्र मातृभाषाहैं, हम एकही धर्म और सभ्यता के हैं—अब भी वर्तमान हैं, इसका एक मात्र कारण पुराने समय में चक्रवर्ती राज्यों का होना है, जिन चक्रवर्ती राज्यों की राजधानियां भारत के भिन्न २ प्रान्तों में समयानुसार बदलती रहीं। ये राजधानियां अयोध्या, दिल्ली, हस्तिनापुर, पाटलीपुत्र, कश्मीर, कन्नौज, कांची, मदुरा, और कल्यान आदि स्थानों में गई। जिस समय एक प्रांत से राजधानी हट कर दूसरे प्रांत में जाती थी उस प्रांत के योग्य शूरवीर, विद्वान् और सेनापति इत्यादि बहुधा वहीं चले जाते थे। इसलिए अपने प्रांत की रीति, सभ्यता और सद्गुण इत्यादि भी साथ लेते जाते थे और इस प्रकार मिलते-जुलते सारे भारतवर्ष की सभ्यता इत्यादि एक हो गई और लोग एक दूसरे को भ्रातृभाव से देखने लगे। चूंकि इन पुराने चक्रवर्ती राज्यों द्वारा हिन्दुओं के भीतर संगठन रहता था इसलिए

पान-हिन्दू सिद्धान्त की दृष्टि से हमें इनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। जिन लोगों ने वीरता दिखाई और जय पाई और जो पराजित होकर मिट गए, हम उन दोनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। हर्ष और पुलकेशिन भारत के इतिहास के दो सर्वप्रिय नाम हैं और हमें मगध, आन्ध्र, आन्ध्रभृत्य, राष्ट्रकूट, भोज और पांड्य इत्यादि राज्यों की स्थापना के ऊपर गर्व है। इनमें से प्रत्येक अपना राज्य चक्रवर्ती बनाने के लिए हिन्दुओं से ही लड़ा और इन लड़ाइयों में सहस्रों हिन्दुओं की जानें गईं, फिर भी हम इन राज्यों को किसी प्रकार से दोषी नहीं ठहराते। हम इस स्थान पर इस बात के ऊपर विचारने के लिये नहीं रुक सकते कि उन्हें अपने राज्य को विस्तीर्ण करके चक्रवर्ती बनाने के लिए कोई दूसरे उपयुक्त साधन थे अथवा नहीं, यदि थे तो लड़ाई न करके उन्हीं को क्यों प्रयोग में नहीं लाए? हमें यह भी मालूम है कि इनमें से बहुत से साम्राज्य हमारे ही प्रान्तों को कष्ट पहुँचाकर बड़े हुए, फिर भी इन के द्वारा जो सारी हिंदू-जाति को लाभ पहुँचा, उसे दृष्टि में रखकर हम किसी प्रकार इन्हें दोषी नहीं ठहराते। मरहठे भी इन्हीं कारणों से, प्राचीन साम्राज्यों से अधिक विशाल, सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इस साम्राज्य की स्थापना में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती लोगों की अपेक्षा कम खून बहाया। उनकी भी अन्य हिन्दुओं और अन्य प्रान्त वालों के साथ कहीं-कहीं मुठभेड़ हो गई। इसके लिए उन्हें दोषी प्रमाणित करना भूल है। इसलिए प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि जातीय और प्रान्तीय भेदभाव को छोड़कर उनकी उतनी ही प्रतिष्ठा और मान करे जितना पूर्वकाल के हिन्दू अपने चक्रवर्ती राजाओं के लिए करते थे।

नहीं नहीं, मरहठों की हमें अधिक प्रतिष्ठा करनी चाहिए, इस लिए कि जिन आवश्यकताओं के कारण मरहठा-आंदोलन आरम्भ हुआ वे पहले आंदोलनों की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण थीं और मरहठों के आदर्श और ध्येय भी हर्ष और पुलकेशिन की अपेक्षा उत्तम

थे इस लिए उनके युद्ध और विजय का महत्व भी उतना ही उत्तम था। मरहठे केवल वीरता दिखलाने या अपने सुख और भोगों के प्रलोभन में पड़कर लड़ने के लिए उद्यत नहीं हुए थे; चक्रवर्ती बनकर प्रतिष्ठा के पात्र बनने के लिए भी वे लालियत नहीं थे; वरन् उनके ऐसा करने का मुख्य कारण यह था कि हिंदू-धर्म और हिंदू-जाति का अस्तित्व मिटने से बचे महाकवि भूषण ने जो वर्णन किया है "काशीहू की कला जाती, मथुरा मसीत होती, शिवाजी न होते तो सुनत होति सबकी"—अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। तत्काल में हुई घटनाओं का उतना महत्व नहीं होता जितना महत्व उनके कुछ समय बीत जाने पर होता है। भूतकाल में किये गये शुभ कार्यों को लोग विशेष महत्व देते हैं और उन्हें श्रद्धा तथा भक्ति से देखते हैं। यह बात महाराष्ट्र के लिये भी चरितार्थ है। मरहठे-शूरवीरों ने देश और धर्म की जो सेवायें कीं वे विक्रमादित्य, शालीवाहन अथवा चन्द्रगुप्त के समय के शूरवीरों द्वारा सम्पादित कार्यों से किसी तरह कम महत्ता नहीं रखती। इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का शासन-काल महत्वपूर्ण और ऐश्वर्ययुक्त था; किन्तु हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उस समय हिन्दू धर्म पर आपदायें इतनी भयंकर न थी जो कि मरहठाकाल के समय आ रही थीं। यदि उस समय कोई आई भी तो उन्हें दबाने के लिये चन्द्रगुप्त के पास पूर्ण साधन थे। विदेशी इतिहास सिकन्दर बादशाह के आक्रमण का बहुत बड़ा बतलाते हैं। किंतु वास्तव में देखा जाय तो उसके आक्रमण का प्रभाव केवल पंजाब पर पड़ा और वह उसी को विजय कर सका। हिंदूशक्ति का केन्द्र उस समय पाटलिपुत्र था, जहां पर उसका प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा। चन्द्रगुप्त की शक्ति और चाणक्य की नीति ने नन्द को राज्य सिंहासन त्यागने के लिये विवश कर दिया, कारण नन्द में म्लेच्छों को देश से निकालने की शक्ति न थी। चन्द्रगुप्त ने स्वयं 'महाराज' की पदवी धारण करके यूनान वालों को भारतभूमि से निकाल दिया। चन्द्रगुप्त के समय से मरहठों के समय

की तुलना इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि चन्द्रगुप्त के पास शत्रुओं का सामना करने के सब साधन वर्त्तमान थे और हिन्दुओं के ऊपर विदेशियों का इतना आतङ्क नहीं छाया हुआ था और न ही उनके भीतर से सारी शक्तियां और आशायें विदा हो चुकी थी। मरहठों के समय में सारा भारत मुसलमानों और पुर्तगेज़ों और दूसरे विभिन्न विदेशियों के पाओं तले रोंदा जा रहा था। शताब्दियों से बार बार मुगलों से हारने तथा अपमानित होने के कारण हिंदुओं ने सोच लिया था कि मुगल हम लोगों के ऊपर शासन करने ही के लिये पैदा हुए हैं, और उन्हें ईश्वर की ओर से भारत का शासन करने का अधिकार मिला है। हिंदुओं की तलवारें टूट गई थीं और उनकी ढालें फट गई थीं। फिर भी मरहठे उठे और मुगलों का सामना करके एक ऐसी लड़ाई में विजय प्राप्त की जैसी लड़ाई का सामना इसके पूर्व हिंदुओं को कभी नहीं करना पड़ा था। हूण और शक यद्यपि भारतवर्ष के भीतर पुर्तगेजों की तरह घुस आये थे किंतु वे मुगलों की तरह सारे भारतवर्ष को अधीन करने में असमर्थ रहे थे। हिंदूधर्म पर जैसा आक्रमण हठधर्मी मुसलमानों और पुर्तगेजों का मरहठों के समय में हुआ वैसा आक्रमण हिंदू-राष्ट्रीय-गौरव और जातीय जीवन पर तोरामन और रुद्रमन के शासनकाल में भी नहीं हुआ होगा। जिन शूरवीरों ने अपनी वीरता, स्वार्थत्याग और उत्साह द्वारा अपनी मातृ-भूमि और अपने धर्म को हूण और शकों के शासन से मुक्त किया वे अवश्य प्रशंसा के पात्र हैं और हम हिंदूमात्र उन योद्धाओं और नीतिज्ञों के ऋणी हैं। वे हमारे गलों को विदेशियों के पंजे से छुड़ाकर ही शान्त न रहे, वरन उन्होंने एक शक्तिशाली हिंदू-साम्राज्य स्थापित किया, जिसे मगध या मालवा कहते हैं। चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य या शालिवाहन की अध्यक्षता में जो साम्राज्य स्थापित हुए वे यद्यपि हमारे प्रांतों को विजय करके और हमारे पूर्वजों के रक्तपात से स्थापित किये गये थे तथापि हम में से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि जो

उपकार उन लोगों ने हिंदू-जाति और हिंदू-धर्म के प्रति किये हैं उनके लिये हम उनके नामों को श्रद्धापूर्वक स्मरण करें और उनके कृत्यों के लिये सदैव कृतज्ञ बने रहें; क्योंकि चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त या यशोधर्मन के पौरुष के कारण ही विदेशी हूण और शकों के शासन से भारतवर्ष को मुक्ति मिली थी। महाराज शिवाजी, बाजीराओ, भाऊ, रामदास, नाना, और जनकोजी इत्यादि शूरवीरों ने उचित साधन न होने पर भी ऐसी शूरवीरता के कार्य किये जिनके उदाहरण भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में भी बहुत कम पाये जाते हैं। इन लोगों ने ऐसे समय में, जब कि विक्रमादित्य या चन्द्रगुप्त के समय से अधिक आपत्ति के बादल हिंदू-धर्म पर मंडला रहे थे, एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। क्या प्रत्येक हिंदू इनके इन कार्यों तथा उनके द्वारा स्थापित साम्राज्य, तथा उनके जातीय गौरव और अभिमान पर ध्यान देकर, उन महापुरुषों के प्रति श्रद्धा से पूर्ण होकर अपना सिर न झुकायेगा और अपने उस राज्य को प्रेम की दृष्टि से न देखेगा ?

इस वैज्ञानिक युग में प्रचार आदि के अनेकों साधन रहते हुए भी गेरीबाल्डी और मैज़िनी जैसे नेता भी अब तक केवल धार्मिक प्रचार का सहारा लेने के कारण सारे इटली के सङ्गठन में असमर्थ रहे। यद्यपि इन्होंने प्रान्तीय भावों को दूर हटा कर लोगों में राष्ट्रीय भाव पैदा करने के लिये प्राणपण से चेष्टा की तथापि उनके कुछ विरोधी खड़े हो ही गये।

नेपोलियन और रोमन लोगों ने इस रहस्य को न समझा कि वे अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को इटली के संयुक्तराज्य के हित के लिये क्यों खो दें। जब पीडमाण्ट का राजा और गेरीबाल्डी, क्रिस्पी, कैवूर और दूसरे पीडमाण्ड के नेता एक प्रांत के पश्चात् दूसरे प्रान्त को विजय करके पीडमाण्ड राज्य में मिला रहे थे, उस समय उन प्रान्तों के नेता इन विजयी शूरवीरों के कार्यों और मनोरथों के जानने के लिये नाना प्रकार के प्रश्न करते थे और उन्हें आपत्तिजनक बतलाते थे। वे

आस्ट्रिया या फ्रांस के शासन के द्वारा बहुत पीड़ित थे, उन्हें विदेशियों की परतंत्रता रूपी बेड़ी की कुछ भी चिंता न थी। जिस प्रकार दास अपने मालिक की नीच से नीच आज्ञाओं के पालन करने का अभ्यासी बन जाता है और अपने बराबर की श्रेणी के लोगों की आज्ञाओं के पालन करने या उन्हें अपना बड़ा समझने में अपना बड़ा अपमान समझता है उसी प्रकार रोम निवासी पीडमाण्ट के आदेशों के अनुसार चलने में अपना बड़ा ही अपमान समझते थे। इसलिये इटली में सङ्गठन स्थापित करने के लिये गेरीबाल्डी इम्मानल और दूसरे सेनापतियों को विदेशियों से ही नहीं, किन्तु इटली के लोगों से भी लड़ना पड़ा। इतिहास उन्हें इस कार्य के लिये दोषी नहीं ठहराता। वर्तमान काल के इटली निवासी, जिनमें नेपोलियन और रोमनों के भी वंशज सम्मिलित हैं, इटली के इन निर्माताओं के नाम सुन कर, उनके किये गये उपकारों का स्मरण करके भक्ति और श्रद्धा से अपनी टोपियां उतार लेते हैं और भांति-भांति से उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। पीडमाण्ट का राजा ही पश्चात् में सर्वसम्मति से इटली का बादशाह स्वीकार कर लिया गया। इसी प्रकार यदि उचित परिस्थिति और समय आ गया होता तो मरहठों का राजा भी हिन्दुस्तान का सम्राट स्वीकार कर लिया जाता। इस योग्य पद के लिये उसमें गुण भी वर्तमान थे। शत्रु और मित्र सब लोगों ने यह सुना था कि विश्वासराओ को भाऊ ने हिन्दुस्तान का राजाधिराज घोषित कर दिया है। जर्मन राज्य, उनकी स्वतन्त्रता और उनकी एकता का इतिहास मरहठा काल के भारत के राजनैतिक विकास के इतिहास से समानता रखते हैं, जिसमें हिन्दू राजे एक होकर मरहठों के राज को अपना सम्राट मानकर काम कर रहे थे। जिस प्रकार पीडमाण्ट का इटली राज्य तथा प्रशिया का साम्राज्य राष्ट्रीयता के भावों से परिपूर्ण थे, उसी प्रकार महाराष्ट्र के हिन्दू साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता और हिन्दू-हित का उद्देश्य कूट-कूट कर भरा था, उसके लिए प्रत्येक

हिन्दू का यह कर्तव्य है कि जिन लोगों ने इस साम्राज्य की स्थापना के लिए अपने प्राणों को निछावर किया, उनका स्मरण आने पर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें।

४

मरहठों की नवीन युद्ध-कला

"आपणांस राखून गनीम घ्यावा, स्थलास गनिमाचा वेढा पडला तो राज झुंजून स्थल जतन करावें, निदान येऊन पडलें तरी परिच्छिन्न वार होऊन लोकी मरावें, पण सख्ता देऊन, स्थल देऊन, जीव वांचविला असें न सर्वथा न घडावें"—राजाज्ञा

ऐसें अवघेंची उठतां। परदलायची काय ती चिंता।
हरिणें पलती उठतां चित्ता। चवूं कडे"—रामदास

हम पुस्तक के आरम्भ में ही लिख आए हैं कि शिवाजी और उनके पूज्यपाद गुरु सद्ज्ञानी रामदास जी द्वारा हमारी जाति के सामने आध्यात्मिक तथा जातीय उच्च आदर्शों को युक्तिपूर्वक रखने तथा नवीन युद्ध कला तथा और नए २ अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार के कारण महाराज शिवाजी के जन्म के साथ हिन्दू जाति के वर्तमान इतिहास में एक बड़े

---

* यदि शत्रु-हमारे देश पर आक्रमण करें तो प्रतिदिवस अपने आप को सुरक्षित करके उनसे लड़ना चाहिये। यदि विपत्ति सिर पर आ पड़े तो पीछे नहीं हटना चाहिये, वरन् लड़ते-लड़ते मर जाना चाहिये ताकि पीछे संसार यह न कहे कि हमने अपने देश का बलिदान करके अपनी जान बचाई है।—राजाज्ञा

इसी प्रकार सारा संसार हमारे विरुद्ध खड़ा भी हो जाय तो भी कोई चिन्ता नहीं। शत्रु-सेना से भय मत खाओ। शत्रु की सेना को इधर-उधर भागते हुए हिरणों के समान समझो।—रामदास

ही महत्वशाली और विजय पूर्ण नवीन युग का प्रारम्भ हो गया। जिन घटनाओं का हमने वर्णन किया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार मरहठों की यह नवीन युद्धकला वास्तव में ही युद्ध विज्ञान में एक नया आविष्कार थी उसी प्रकार महाराष्ट्र धर्म भी मृतप्राय हिन्दू जाति की नष्ट होती हुई आत्मा में नवजीवन का संचार करने वाला सिद्ध हुआ। निश्चय रूप से उस समय की परिस्थितियों में यह नवीन युद्धकला महाराज शिवाजी के लिये परमोपयोगी सिद्ध हुई और इसका विकास भी मानों उन्हीं परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हुआ था। शिवाजी के वंशजों ने भी उन्ही ढङ्गों को अपनी बुद्धि के अनुरूप पाया और उनमें लचकीलापन अनुभव किया। अतः जिन्हें शिवाजी मुठी भर आदमियों को लेकर प्रयोग किया करते थे और बड़ी २ सेनाओं को परास्त किया करते थे उन्हें ही वे अब बड़ी सेनाओं के स्वामी होकर भी प्रयोग में लाते थे और विजय प्राप्त करते थे। शिवाजी और गुरु रामदास द्वारा अविष्कृत इस नवीन युद्धकला को उनके उत्तराधिकारी सेनापतियों ने और भी विशाल रूप दिया और बड़ी २ सेनाओं के अधिपति होने पर भी उन्होंने उन्हीं युद्ध कलाओं को सफलतापूर्वक प्रयोग किया जिसके फल स्वरूप शत्रु उनके सामने न ठहर सका। मरहठों की सेनायें शत्रुओं की बड़ी-बड़ी सेनाओं को देखकर तितर-बितर हो जाया करती थीं और पास के पहाड़ों और जंगलों में लुक-छिपकर उनका परीक्षण किया करती थीं। इसको देखकर शत्रु यह समझ लिया करते थे कि मरहठे डर कर भाग गये हैं और उनका सामना करने में सर्वथा असमर्थ हैं अतः वे प्रसन्नता से आगे बढ़ते जाते थे। अन्त में वे ऐसी जगह जाकर फंस जाते थे कि जहां से उनका निकलना असम्भव हो जाता था और कभी-कभी तो वे ऐसी जगह पर पहुँच जाते थे कि जहां पर मरहठे उन्हें लेजाना अपने लिये अत्यन्त लाभदायक समझते थे। ऐसी दशा उपस्थित हो जाने पर मरहठे बड़ी चतुराई से अपना

घेरा सीमित करके और व्यूहबद्ध होकर अपने शिकार पर अकस्मात बिजली की भांति टूट पड़ते थे। और इससे पहले कि शत्रु परिस्थिति का अनुभव कर सके, नष्ट कर दिया जाता था। जब कभी मरहठों ने डट कर लड़ना चाहा, वे ऐसी बहादुरी और वीरता से लड़े कि शत्रुओं के दिल में आतंक जमा दिया और मुसलमान किसी प्रकार भी इनका सामना न कर सके। इसका प्रमाण हंबीर राओ की लड़ाई और बदायूं घाट की लड़ाई तथा और भी कई लड़ाईयों से मिलता है। इन लड़ाईयों से यह भी प्रकट है कि मरहठे जब लड़ना चाहते थे तब ही लड़ते ही थे किंतु जब कभी वे शत्रुओं के विवश करने पर भी लड़े तब भी उन्होंने उनके छक्के छुड़ा दिये।

नवीन युद्धकला और आत्मबलिदान का सिद्धांत जो मरहठों को सदा प्रोत्साहित किये रखता था श्री रामदासजी के "शक्तिने मिलती राज्ये युक्तिनें यत्न होतसे"* सिद्धांत पर आश्रित था। वे धार्मिक युद्ध के पुजारी थे, क्योंकि युद्ध के बिना न ही स्वतन्त्रता और न ही राज्य की प्राप्त हो सकती थी। आत्म-बलिदान, असीम शौर्य आदि विशेषताओं के कारण ही वे भारत के स्वामी बन सके थे। परन्तु शक्ति से भी अधिक उन्होंने युक्ति का मान किया क्योंकि इसके बिना शक्ति पाशविक बन जाती है। वे अपना बलिदान देने के लिये तभी तय्यार होते थे जब उन्हें युक्ति पूर्वक यह निश्चय हो जाता था कि उनका यह बलिदान सफलता के लिये परमावश्यक है। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि जिस बलिदान से परिणाम में सफलता प्राप्त नहीं होती वह आत्मबलिदान नहीं कहलाता वरन उसे आत्मघात कहना चाहिये। और मरहठा युद्धकला में ऐसे बलिदान के लिए कोई स्थान नहीं था। जब प्रातः स्मरणीय रामदास जी "शक्तियुक्ति जयें ठायीं। तेथें श्रीमंत नांदती"+ का प्रचार करते थे तब उनके प्रचार

* शक्ति से राज्य की प्राप्ति होती है और युक्ति से कार्य सिद्ध होते हैं।

+जहां पर शक्ति और युक्ति एक साथ होते हैं वहीं श्री का वास होता है।

का यह उद्देश्य होता था कि "कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्"।❀ वे सदा ही ऐसे उपाय सोचा करते थे जिनके फलस्वरूप वे अपनी अपेक्षा शत्रु को अधिक हानि पहुँचा सकें। इस सिद्धांत को सामने रखकर ही वे प्रायः जम कर कहीं नहीं लड़ते थे. परन्तु जब कभी उन्हें कहीं जम कर लड़ना भी पड़ता था तो वे अपने सिर धड़ की बाजी लगा कर शत्रु का सामना करते थे और फिर यह नहीं सोचते थे कि उनको कितनी हानि होगी क्योंकि वे सोचते थे कि इस समय इस असीम बलि-दान से उन्हें अन्त में सफलता अवश्य मिलेगी और यदि वे इस समय बलिदान न देंगे तो उनको और भी अधिक हानि उठानी पड़ेगी।

मरहठे पहले तो शत्रुओं के इर्द-गिर्द घूमा करते और उनके सर-दारों को जहां अकेला पाते मार डालते और उनकी छोटी २ टोलियों पर अपने स्थान से निकल कर धावा करके उन्हें व्याकुल करते रहते थे। यदि मरहठों का पीछा किया जाता तो वे भाग निकलते थे। जब पीछा करने वाले उनका पीछा छोड़ कर लौटना चाहते तब उसी समय मरहठे उन पर वज्र की की भांति टूट कर उनका सत्यानाश कर देते थे। इस कौशल को उन्होंने इतना उपयोगी बनाया कि जब वे अपनी सेनायें लेकर निकलते थे तब शत्रुओं की भटकी हुई छोटी २ टुकड़ियों को रोकने या वध करने की बजाय उनकी बड़ी २ सेनाओं को घेर कर तहसनहस कर देते थे। होल्कर और पटवर्धन अंग्रेजों और मरहठों की पहिली लड़ाई में उपरोक्त नीति का अवलम्बन करके ही सफलीभूत हुए थे। मरहठे अपने नेता महाराज शिवाजी के उपायों को महादजी शिन्दे और नाना फड़नवीस के समय तक कार्य में लाते रहे।

उनकी लड़ाई की दूसरी विशेषता यह थी कि वे लड़ाई आरम्भ होने से पहिले ही शत्रुओं की फौजों पर आक्रमण कर दिया करते थे, जिस से शत्रुओं को सिवाय अपनी रक्षा करने के लड़ने का अवसर ही नहीं

❀ युक्ति के साथ ही शक्ति का उपयोग करना चाहिये अन्यथा युक्ति के बिना शक्ति पाशविक बन जाती है।

मिलता था इस प्रकार पहल मरहठों के हाथ में ही रहती थी। वे अपने राज्य को सुरक्षित रखते और शत्रुओं के राज्य को उजाड़ देते थे। प्रायः ये लोग लड़ाइयों को टालते हुए इधर-उधर घूमा करते और शत्रुओं की रसदें मौका पाकर लूटा करते, विपक्षियों की प्रजाओं में भय का प्रसार करते तथा अन्त में शत्रुओं के सैनिकों में निराशा फैला कर उन्हें निरुत्साहित कर देते थे। इसका फल यह होता था कि नियमित राज्य टूट जाता, राज्य का सारा प्रबन्ध बिगड़ जाता, लूट मार के कारण भोजन का भी अभाव हो जाता और देश में घोर दुष्काल पड़ जाया करता था। एक ओर तो वे शत्रु के कार्यक्रम में बाधायें डालते तथा आतंक फैलाते थे और एक तरफ लड़ाई के खर्चे के लिये चन्दा लगाते और अनेक प्रकार के कर बढ़ा कर वसूल करते थे। इस प्रकार शत्रुओं को अपनी सेना, रक्षा और भोजन के साथ २ मरहठों के लिये भी रक्षा और भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता था। न तो शत्रु उनसे बच कर ही रह सकते थे, न उनका सामना ही कर सकते थे। शत्रु निराश होकर चिल्ला उठते थे "इन मरहठों से लड़ना हवा से लड़ना या पानी को पीटना है।" इस नीति का सर्वोत्तम उदाहरण राघोजी भोंसला के बंगाल के युद्धों में मिलता है। हम पीछे लिख आये हैं कि हर साल बंगाल पर आक्रमण पर आक्रमण करके मुसलमान-नबाव को भोंसला ने इतना तंग कर दिया कि अन्त में परेशान होकर उसे उड़ीसा मरहठों को दे देना पड़ा और हिन्दू-पद-पादशाही के अधीन कर देने वाला राजा बन कर रहना पड़ा।

इस युद्ध से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह कहना ठीक नहीं कि यद्यपि शिवाजी के समय में शत्रुओं के देश और राज्य को नष्ट भ्रष्ट करने के वे उपाय ठीक थे, पर अब जब कि पेशवा बाकायदा मालगुजारी ले कर अपनी सेनाओं को रख सकते थे उन का लूट मार करना न्याय-संगत नहीं था। इसे इस लिये भी अनुचित नहीं कह सकते क्योंकि युद्ध की इस प्रणाली को उस समय सब राष्ट्र काम में लाते थे।

मुसलमान जब मुसलमानों या हिन्दुओं के साथ लड़ते थे तो वे भी इसी नीति को ग्रहण करते थे। पुर्तगेज़, अंग्रेज़ और राष्ट्र, चाहे वे एशिया में हों या यूरोप में, इस बात को सब उचित समझते थे कि जिन मुल्कों को वे विजय करें उन पर लड़ाई का चन्दा लगायें। दूसरा कारण यह भी था कि मरहठे, जिन्हें कई शत्रुओं से, जिनमें अधिकतर विदेशी और अन्यायी थे, एक ही साथ लड़ना पड़ता था, उनके मुक़ाबले के लिए वे इतनी बड़ी सेना, जो कि एक ही साथ अपने सैनिक-आधार पूना से एक ओर पंजाब तथा दूसरी ओर अरकाट तक लड़ रही थी, अपने धन से किसी प्रकार नहीं रख सकते थे; क्योंकि वे इसके द्वारा शत्रुओं की युद्धनीति को छिन्न-भिन्न कर देते थे, जिससे शत्रु किसी और नीति की अपेक्षा अल्प समय में मरहठों के आगे झुकने के लिये बाध्य हो जाया करते थे।

मरहठों की इसी लड़ाई की प्रणाली को उनके शत्रु लूट या निर्दयतापूर्वक डाके के नाम से प्रख्यात करते हैं। मरहठे अगर इस अपराध के अपराधी ठहराये जा सकते हैं तो इस सिद्धान्त के अनुसार सभी राष्ट्रों को अपराधी मानना पड़ेगा क्योंकि बोअरों तथा जर्मनी की लड़ाई में, लार्ड डलहौज़ी के अन्य राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने के समय और सन् १८५७ ई० में नील की लड़ाई में यही नीति काम में लाई गई थी। तब इस नीति का उपयोग करते समय यह बात कही गई कि युद्ध के सिद्धांतों के अन्दर ऐसी नीति का उपयोग युक्तिसङ्गत है। इस लिए वही सिद्धांत हिन्दू-जाति की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के सम्बन्ध में लागू हो सकता है और विशेषतः उस अवस्था में जबकि औरङ्गज़ेब, टीपू और गुलामकादिर जैसे व्यक्तियों के साथ सामना था। लड़ाई में विजय पाने के लिये हरएक उपाय उचित ही था। इस कथन की पुष्टि करने के लिए, कि धार्मिक लड़ाई में सब कुछ उचित है, और दूसरी बातोंमें पड़कर

हम व्यर्थ समय खोना उचित नहीं समझते और शिवाजी के उस उत्तर को लिख देना पर्याप्त समझते हैं, जिसे उन्होंने अपने शत्रुओं के पास लिख भेजा था। शिवाजी ने लिखा था—"आपके शाहंशाह ने मुझे विवश कर दिया है कि मैं अपने देश और प्रजा की रक्षा के लिए सेना रक्खूं। अब इस सेना का व्यय उसकी प्रजा को ही देना पड़ेगा।" उस समय के अंग्रेज़ लेखकों ने भी शिवाजी के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया है कि—"जहाँ कहीं वे जाते थे जनता को विश्वास दिलाते थे कि जो उनकी आज्ञाओं का पालन करेंगे उन्हें वह या उनके सिपाही किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचायेंगे और इस बात पर वे अटल रहे।" इसके साथ हम यह भी कह सकते हैं कि उसी तरह की प्रतिज्ञा मरहठे सेनापतियों ने निज़ाम के साथ की और अपनी इस प्रतिज्ञा को उन्होंने उसके साथ अन्तिम लड़ाई तक, जो कि सन् १७६५ ई० में खारडा में हुई थी और जिसमें मरहठे विजयी हुए, निभाया।

यह सच है कि ऐसे युद्धों में शत्रु की हिन्दू-प्रजा की भी हानि हुई, किन्तु हमें युद्ध में घटने वाली निर्दयतापूर्ण आवश्यक घटनाओं के कारणों के विषय में इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी परिस्थितियों में हिन्दू-मुसलमानों को पृथक २ पहचानना असंभव था और न ही मुनासिब ही था। जैसे मुसलमान और दूसरे शत्रुओं को मरहठों को हर्जाना देना पड़ा उसी प्रकार हिन्दुओं को भी देना पड़ा। वास्तव में उन्हें कार्यरूप में मरहठों का साथ देना चाहिये था तो भी वे उदासीन होकर ही बैठे रहे। नहीं नहीं बल्कि वे तो मरहठों ही के शत्रु बन गये और राष्ट्रीय लड़ाई में उनका साथ नहीं दिया। इसीलिये उन्हें भी लड़ाई का हर्जाना देना पड़ा। यह लड़ाई का टैक्स था जो कि साधारणत: सब हिन्दुओं से हिन्दू-साम्राज्य की उस सेना के व्यय के लिए एकत्र किया जाता था, जिसकी वीरता के कारण हिन्दू-धर्म, हिंदू-मंदिर हिन्दू-जाति और हिन्दू सभ्यता शेष रह गई, नहीं तो सारे हिन्दू मुसल-

मान बना लिये गए होते और हिन्दुओं का नाम भी शेष रहता या नहीं यह अनुमान करना असम्भव है।

कहीं २ पर मरहठे सिपाहियों ने कुछ-कुछ अनुचित कार्य भी किया है; किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे अपराध इन अपराधों के सामने कुछ भी नहीं है जिन्हें मुसलमानों, पुर्तगेज़ों और दूसरे राष्ट्रों ने, जिनसे मरहठों को लड़ना पड़ा, किये और जो क्षमा योग्य समझे गये थे, और कभी कभी तो वे उचित भी माने गये थे। मरहठों ने तो उन मौलवियों को भी, जो कि हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने के अपराधी थे, कभी ज़बर्दस्ती हिंदू-धर्म ग्रहण करने के लिए बाधित नहीं किया। यद्यपि उस समय उनमें भी ऐसा करने की शक्ति थी। यद्यपि वे इस बात को भली भांति जानते थे कि उनके देवमंदिर 'अल्लाह' की शक्ति दिखलाने के लिये गिराये गये थे, तथापि उन्होंने उसके बदले में राम और कृष्ण की शक्ति दिखलाने के लिए मसजिदों और गिरजाघरों को गिराना पाप समझा। जहां तक उनके धार्मिक अत्याचारों का सम्बन्ध है उनका कट्टर से कट्टर शत्रु भी उन्हें कत्ले-आम का दोषी नहीं ठहरा सकता। न तो उन्होंने स्त्रियों के सतीत्व ही भ्रष्ट किये और न हठधर्मी बनकर लोगों को दुःख ही दिये और न शत्रुओं के धार्मिक ग्रन्थ ही को जलाया। हां, उन्होंने लड़ाई का खर्च शत्रुओं के मुल्कों से अवश्य ही वसूल किया, और सैनिक आवश्यकता के अनुसार भोजन सामग्री इत्यादि का नाश अवश्य किया और मुल्कों को उजाड़ा। इन ही बातों को शत्रुओं ने लूट का नाम दिया। केवल यह ही दोष शत्रु उनके विरुद्ध लगा सकते हैं। यह साधन उनके लिये कितना आवश्यक शस्त्र था यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जब विदेशियों ने आक्रमण किया तब वे इस शस्त्र को अपने प्रति भी काम में लाने के लिए उद्यत हो गये थे। महाराज राजाराम के समय में जब औरङ्गज़ेब ने आक्रमण किया और दो बार अंग्रेज़ों ने पूना ले लेने का प्रयत्न किया तो उन्हें बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी क्योंकि मरहठों ने अपने देश छोड़ देने तथा उन्हें उजाड़

देने में ज़रा भी आगा पीछा नहीं सोचा था, बल्कि उन्होंने तो यहां तक ठान लिया था कि यदि अंग्रेज़ पूना तक आ गये तो वे इसे भी जला देंगे। इसलिये यह भली भांति स्पष्ट हो गया कि वे शत्रुओं के राज्य पर इस लिए आक्रमण कभी नहीं करते थे कि वे दूसरे देशों के हिंदुओं से घृणा करते थे अथवा उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना चाहते थे। यह भी बात तभी तक रहती थी जब तक कि मरहठों की मांग पूरी नहीं होती थी, या युद्ध समाप्त नहीं हो जाता था। ज्यों ही कोई प्रांत ठीक प्रकार से हिन्दू-साम्राज्य में मिला लिया जाता अथवा कर देने वाला राज्य बना दिया जाता था, मरहठे आक्रमण करना बन्द कर देते थे। जिस स्थान के लोगों ने मरहठों को मुसलमान या अंग्रेजों के बन्धन से अपने मुक्त कराने के लिए बुलाया या जहां के निवासी मरहठों के साथ विदेशियों के विरोध में खड़े हुए, मरहठों ने उनका पूरा साथ दिया तथा उनके साथ सदैव बड़े प्रेम का बर्ताव करते रहे।

कहीं कहीं पर मरहठों ने अति की। उसकी हमें अवश्य निन्दा करनी होगी, किन्तु हमें विचार करना चाहिए कि ऐसी ज्यादतियाँ गेरीबाल्डो के रोम से लौटने पर, फ्रांस की राष्ट्रीय क्रांति में, आयर्लैण्ड के सीनफीन में, अमेरिका की स्वतन्त्रता की लड़ाई और जर्मनी के आजादी के युद्ध में अनेकों पाई जाती हैं। जिस प्रकार उपरोक्त घटनाओं के कारण यूरोपीय देशों का राष्ट्रीय गौरव कुछ भी कम नहीं हुआ, उसी प्रकार मरहठों ने भी कहीं कहीं पर जो अनुचित व्यवहार किये हैं, उनके कारण महाराष्ट्र का गौरव कम समझना भूल है। कारण कुछ तो ऊपर बतला ही दिया गया है और विशेष यह है कि जो अत्याचार विदेशियों ने हिन्दुओं तथा मरहठों पर किये, उनके सामने मरहठों द्वारा किये गये अत्याचार कुछ भी नहीं। जिस आन्दोलन ने शताब्दियों से दासता की धूल में पड़े हुए हिन्दुओं की ध्वजा को उठाकर खड़ा किया, राजाओं, महाराजाओं, नव्वाबों और बादशाहों का प्रबल सामना करके अटक में

उसे गाड़ा और शत्रुओं को विवश किया कि उसके सामने घुटने टेकें और उसकी प्रतिष्ठा करें, उस आन्दोलन और उस हिन्दू साम्राज्य के प्रति प्रत्येक हिन्दू देशभक्त सदा कृतज्ञता प्रकट करता रहेगा।

५

हिन्दू-जाति का काया-कल्प।

"शास्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते" *

यद्यपि मरहठों की जागृति के कारण हिन्दुओं के पुनरुद्धार की ख्याति हुई तो भी इसे सर्वप्रथम हिन्दुओं की राजनैतिक और सैनिक परिधि में जीवन डालकर एक विशाल राष्ट्रीय राज्य स्थापित करना परमावश्यक था जिससे कि हिन्दुओं के जीवन का प्रत्येक भाग प्रगतिशील होता, ज्योंही मरहठाशक्ति की रक्षा में हिन्दुओं को पूर्णतया राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई उन्होंने एक राष्ट्रीय राज्य स्थापित कर दिया। महाराष्ट्र का हिन्दूराज्य कई महत्वपूर्ण कार्यों और सुधारों को, जो इस पुनरुद्धार के आंदोलन के कारण हिन्दुओं में प्रचलित हुए, अपने हाथों में लेकर उनको उन्नतिशील दशा में लाया। शत्रुओं में जो गुण थे उन्हें अपनाकर विदेशियों के आतङ्क के पंजे से हिन्दू जीवन को स्वतन्त्र और मुक्त करने के लिये मरहठों ने बड़ा ही प्रयत्न और परिश्रम किया। हिन्दुओं की भाषा के ऊपर अरबी और फारसी का इतना अधिकार हो गया था कि राज्य के सारे कार्य फारसी भाषा में किये जाते थे। पर ज्यों ही मरहठों ने हिन्दू राज्य की स्थापना कर ली उन्हों ने सारा राज्य-कार्य फारसी में करना बन्द करा दिया। फिर उन्होंने पहले अपनी भाषा

---

* शास्त्रों द्वारा देश की रक्षा होती है, इसलिये शास्त्रों को ठीक रखना उचित है।

को शुद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो उस का अन्त हो जाता और उसके स्थान पर अर्बी या उर्दू का प्रचार हो गया होता जैसा कि पंजाब और सिन्ध में हो गया है पर राष्ट्रीय साम्राज्य ने राष्ट्रीय भाषा को पुनर्जीवित किया। एक विद्वान पंडित नियुक्त किया गया जिसने राज्यव्यवहार-कोष बनाया, जिस में प्रत्येक विदेशी मुसलमानी भाषा के शब्द के लिए, जो कि उस समय की जनता के विचारों और सरकारी कागज़ों पर छाये हुए थे, समानार्थक शब्द ढूंढ कर एकत्र किये गये और साथ ही लोगों को भी विदेशी शब्दों का प्रयोग में न लाने के लिये प्रोत्साहित किया गया।

इस सुधार का मरहठी भाषा पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। राजनैतिक पत्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि विदेशी भाषा के बहिष्कार के लिये पूर्ण परिश्रम किया गया। साहित्य, इतिहास, राजनीति, कविता इत्यादि सब धीरे २ सुधरने लगे और अन्त में हम मोरोपन्त की महान् कृति "महाभारत" देखते हैं, जिस में एक दर्जन भी विदेशी शब्द नहीं पाये जाते। "बखर" भी कोई मध्यम श्रेणी का ग्रन्थ नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि मरहठे लेखक ऐसी पुस्तकें मरहठी भाषा में लिखने लगे जिन की भाषा अद्वितीय प्रभावशाली होती थी और लोगों के भीतर नव-जीवन का संचार कर दिया करती थी। उस समय के राजनैतिक जीवन ने भारत के इतिहास में और शूरवीरों के गुणों की कथा ने भाषा में जीवन डाल दिया। एक आज यह समय आ गया है कि हम लोग बिना वीरता के कार्य किये ही वीर रस का इतिहास लिखने बैठ जाते हैं, यद्यपि हमें उनका ठीक अनुभव करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

केवल मराठी ही नहीं वरन् हिन्दुओं की पवित्र भाषा संस्कृत भी मरहठों के शासनकाल में बड़ी उन्नत दशा को प्राप्त हुई। वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, पुराण ज्योतिष वैद्यक और काव्य का भी पुनरुद्धार हुआ। हिन्दुओं की दर्जन से अधिक राजधानियां भारत के भिन्न २ भागों में

शिक्षा के केन्द्र बन गई और हिन्दु विद्वानों और विद्यार्थियों का संरक्षण करने लगी, तथा पाठशालाओं और महाविद्यालयों की स्थापना करके उनको सुचारु रूप से चलाने लगी। धार्मिक शिक्षा की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया जाता था। साधु-सन्त स्वेच्छापूर्वक मरहठों द्वारा सुरक्षित रह कर हरिद्वार से रामेश्वर और द्वारिका से जगन्नाथ तक स्त्री पुरुषों को हिन्दू धर्म, हिन्दू-दर्शन और पुराणों की शिक्षा देते हुए भयरहित भ्रमण करते थे। उनके पालन और सहायता के लिये और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राजे, वायसराय, गवर्नर और सैनिक बराबर ध्यान देते थे। स्वामी रामदास जी के स्थापित किये गए मठों के अनुरूप देश में बहुत से मठ स्थापित हो गए, जिनकी रक्षा का भार राज्य के सिर पर था और उन मठों के द्वारा राजनैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार होता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष श्रावण में भारतवर्ष के सारे विद्वान पूना में एकत्र हुआ करते थे और पेशवा की संरक्षता में उनकी विद्याओं की परीक्षा हुआ करती थी। लोगों को पद, पुरस्कार दिये जाते थे और योग्य विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्ति भी दी जाती थी। हिन्दू धर्म की शिक्षा प्रोत्साहन और इनामों के लिए हर वर्ष इस अवसर पर १०,००,००० रुपये से कम व्यय नहीं किया जाता था। इस प्रकार विद्वानों के एकत्र हो जाने से यह लाभ होता था कि लोगों के भिन्न २ विचार और धार्मिक सिद्धान्त एक दूसरे में परिवर्तित हो जाया करते थे और फिर सर्वसाधारण में फैल जाते थे। लोग यह अनुभव करने लग जाते थे कि यद्यपि हमारे भीतर धार्मिक और जातीय विभिन्नतायें हैं किन्तु फिर भी हम सब हिन्दू हैं और एक राष्ट्रीय ध्वजा के नीचे एकत्र हुए हैं जिसने शत्रुओं का नाश कर दिया है और जो हमारे देश, धर्म और सभ्यता की हर प्रकार से रक्षा कर रही है।

सर्व साधारण के हित के कामों पर भी पेशवा और उसके अधिकारी-वर्ग उचित ध्यान देते थे। यदि अटक और रामेश्वर से कर

रूप में धन वह कर पूना में आया तो वह कृपणता के साथ जमा नहीं किया गया और न ही मनमाने भोग बिलासों में ही व्यय किया गया वरन वह अन्त में उपयोगी स्रोतों द्वारा बह कर भारत के तीर्थों और क्षेत्रों में चला गया। भारतवर्ष में कोई भी ऐसी पवित्र नदी न रही जिस पर घाट न बने हों, और कोई ऐसा घाट न रहा जहां पर एक बड़ी धर्मशाला या ऊँचे कलशों वाले सुन्दर मन्दिर न बने हों और ऐसा कोई मन्दिर नहीं रहा जिस के लिये वृत्ति न लगाई गई हो। ये सब महाराष्ट्र-हिन्दू साम्राज्य की दान वीरता और उदारता की साक्षी ही तो देते हैं। यद्यपि मरहठे रात दिन शत्रुओं का सामना करने के लिये लड़ते रहते थे तथापि जिंजी से लेकर तंजौर और ग्वालियर तक तथा द्वारका से जगन्नाथ तक का देश, जो मरहठों के शासन के भीतर था, शान्ति का जीवन व्यतीत कर रहा था। राज्यकर भी साधारण था और शासन न्याययुक्त हो रहा था। प्रजा अन्य किसी राज्य की प्रजा से अधिक सुखी और सम्पत्तिशाली थी। मरहठों के राज्य में सड़कें, डाकविभाग, जेल, हस्पताल और इंजिनियरिङ्ग विभाग का प्रबन्ध उस समय के अन्य राज्यों के प्रबन्ध से कहीं उत्तम था। इन बातों की सत्यता के लिये बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं। यद्यपि कभी-कभी अशान्ति हो जाया करती थी, फिर भी लोग स्वतन्त्रता के सुख का अनुभव कर रहे थे और अपने राज्य को केवल प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से ही न देखते थे, वरन उसके लिये उन्हें अभिमान भी था और उस समय अपने जन्म के लिये परमात्मा को धन्यवाद देते थे। इन बातों की सचाई हम उस समय के पत्र-व्यवहारों, कविताओं, वीर रस की कथाओं, बखरों और साहित्य के द्वारा अच्छी प्रकार देख सकते हैं।

और भी बड़े २ आंदोलनों की कमी न थी। बहुत सी रीतियां या झूठे विश्वास; जिन के कारण राष्ट्रीय या सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ती थी, वे या तो साधारण बना दी गई या उन का एक दम त्याग

कर दिया गया। नये ढङ्ग की पूजा, भिन्न २ वर्णों का आपस में विवाह और सामुद्रिक यात्रा का प्रबन्ध किया गया। जो लोग विदेशों को जाने के कारण जातिच्युत किये गये थे या जिन को पुर्तगेजों या मुसलमानों ने बलपूर्वक या धोका दे कर अपने धर्म में मिलाया था, फिर से हिन्दू धर्म में लाये गये। अन्तिम आंदोलन अर्थात् शुद्धि का प्रश्न हमारे पूर्वजों में मरहठा-काल ही में आरम्भ हो चुका था। पुर्तगेजों के लिखित प्रमाणों से पता चलता है कि बड़े २ ब्राह्मण, पुर्तगेजों द्वारा बलपूर्वक ईसाई धर्म में मिलाये गये हिन्दुओं को, फिर से छिप २ कर पवित्र जल में स्नान कराकर शुद्ध करके हिन्दू बना लिया करते थे। एक बार इस छिपी हुई शुद्धि की प्रथा का समाचार पुर्तगेजों को भी मिल गया। उन्होंने जा कर उस स्थान को जहां शुद्धि हो रही थी, घेर लिया और बन्दूकों के डर से लोगों को भगा दिया पर एक गोस्वामी ने एक इंच भी हटने से इन्कार कर दिया और मार डाला गया। निम्बालकर नामी मरहठा सरदार को बीजापुर के नवाब ने जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया और अपनी लड़की का उसके साथ ब्याह कर दिया। लेकिन अन्त में वह भाग कर मरहठों के पास आया और ब्राह्मणों की आज्ञानुसार शिवाजी की माता जीजाबाई की संरक्षता और इच्छा से उसे शुद्ध करके हिन्दू धर्म में लाया गया और कट्टर सनातनधर्मी भावों को मिटा देने के लिये उसके बड़े लड़के का विवाह महाराज शिवाजी की पुत्री से करा दिया। दूसरी बड़ी मशहूर शुद्धि नेताजी पालकर की हुई। वह बहादुर मरहठा-सेनापति—जो दूसरा शिवाजी कहलाता था—मुसलमानों के हाथ में फंस गया और औरङ्गजेब बादशाह ने आज्ञा दी कि इसे मुसलमान बना कर सीमांत प्रदेश की असभ्य जातियों में रहने के लिये भेजा जाय। ऐसा ही हुआ, परन्तु किसी प्रकार से बहादुर सेनापति भाग कर महाराष्ट्र पहुंचा और उसने लोगों से प्रार्थना की कि मुझे हिंदू-धर्म में स्थान दो। पण्डितों ने उसकी सिफारिश महाराज शिवाजी के पास की और इस प्रकार उसे

हिंदू धर्म में ले लिया गया। पेशवा भी इस कार्य को नाना फड़नवीस के समय तथा इस के बाद तक करते आये। 'पेशवाओं की डायरी' नामक पुस्तक को, जिसमें मूल आज्ञाएं और लिखित प्रमाण प्रकाशित हुए हैं, देखने से प्रकट हो जाता है कि ऐसी बहुत सी घटनाएं हुई हैं कि कई लोग बलपूर्वक मुसलमान अथवा ईसाई बनाये गये, किन्तु प्रायश्चित करने पर उन लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में शरण दी गई और उनके सजातीय लोग उनके साथ पहिले की भांति सामाजिन सम्बन्ध रखने लगे। उदाहरण के लिये पुताजी को लीजिये। पुताजी एक सिपाही थे और सूरत जिला स्थित सेना में काम करते थे। किसी प्रकार वे मुसलमानों के हाथ में फंस गये और मुसलमान बना लिये गये। लेकिन जब बालाजी बाजीराव दिल्ली से लौट कर आ रहे थे वह भाग कर किसी प्रकार मरहठा-सेना से मिल गया। उसके सब सजातीय लोगों ने एकत्र होकर उसे अपनी जाती में ले लेने का विचार प्रकट किया और पेशवा की आज्ञा लेकर उसे अपनी जाति में मिला लिया [पृष्ठ २१५-२१६]। तुलाजी भट ने, जो प्रलोभनों द्वारा मुसलमान हो गया था, ब्राह्मण-मंडली के सामने खड़े होकर अपने किये पर पश्चाताप किया। अपने अपराध को स्वीकार कर उसके लिये क्षमा की प्रार्थना की। उसे भी न्दूधर्म में स्थान दिया गया और राजाज्ञा निकाली कि चूंकि ब्राह्मण मण्डली ने भट जी को स्वीकार कर लिया है इसलिये उसे सजातीय सब सुविधायें दी जांय। महाराज सम्भाजी के अशान्त शासन-काल में भी इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं। उसके काल में गङ्गाधर कुलकरनी की शुद्धि हुई, जो कि जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया था। उसके सम्बन्ध में सम्भाजी ने यह घोषणा कर दी थी कि गंगाधर हिन्दू-धर्म में सम्मिलित किया जा रहा है। जो मनुष्य उसके साथ खान-पान का भेद भाव रक्खेगा वह देव धर्म के सिद्धांतों की अवहेलना करने का अपराधी समझा जायगा और वह स्वयं भी पापी समझा जायगा।

हम यहां पर योधपुर की राजकुमारी इन्दाकुमारी की घटना का उल्लेख भी कर देना अनुचित नहीं समझते। उसका विवाह मुग़ल सम्राट् के साथ हुआ था। पर जब वह कई सालों के पश्चात् वापिस आई तो राजपूतों ने उसे शुद्ध करके हिंदू धर्म में मिला लिया था।

यह स्वाभाविक बात थी कि जिन लोगों ने राजनैतिक बुराईयों को—जिसने कि हमारी मातृभूमि को इतना पीड़ित किया था—दूर करने का कार्य अपने हाथ में लिया था वे उसके साथ-साथ धार्मिक और सामाजिक बुराईयों को भी दूर करें, क्योंकि वे राजनैतिक बुराईयों से अधिक हानिकारक थीं। हिन्दुओं की स्वतन्त्रता और हिन्दुओं के पुनरुद्धार के जिस आन्दोलन ने राजनैतिक और सैनिक क्षेत्रों में इतनी सफलता प्राप्त की उसने हमारे धार्मिक, सामाजिक पवित्रता और सभ्यता सम्बन्धी कार्यों को भी जो शताब्दियों से बिगड़ते चले आते थे, ठीक रास्ते पर लाने में कुछ उठा नहीं रक्खा। मुसलमान लोगों ने केवल एक सौ वर्ष के भीतर सारे दक्खिन में अपने धर्म और को फैलाया, लाखों मनुष्यों को मुसलमान बनाया. परन्तु खेद का विषय है कि हिंदू-जाति, हिन्दू-साम्राज्य रहने पर भी दो-चार सौ भी मुसलमानों को हिन्दूधर्म में नहीं ला सकी; किन्तु यदि उन्होंने ऐसा करना चाहा होता और इसके यहां यदि ऐसी प्रथा प्रचलित होती तो वे अवश्य सफलीभूत हुए होते। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्यों की दासता की राजनैतिक बेड़ी कभी २ शीघ्र तोड़ी जा सकती है, किन्तु अन्धविश्वास को मनुष्यों के भीतर से हटाना एक बड़ा ही कठिन कार्य है। इसके साथ-ही-साथ इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिये कि मरहठों की सारी शक्ति पहले हिन्दुओं की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में और हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने ही में लग गई, इसलिये उन्होंने यदि सामाजिक सुधारों की ओर जो परमावश्यक थे, यदि विशेष उन्नति नहीं की तो हमें इसके ऊपर कोई आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उन्होंने झूठे अंधविश्वासों को, जो हिन्दुओं के मस्तिष्कों में भरे हुए थे, हटाकर उनकी जगह पर शुद्धि की प्रथा को उनके भीतर स्थान दिलाया, जिसकी स्थापना करना उस समय कठिन ही नहीं वरन असम्भव था।

६

प्रेम और कृतज्ञता का ऋण।

* सौख्य स्मरुनि राज्याचें मीनापरि अखंड तलमलती —प्रभाकर

अब हमारे अंतिम और—जहां तक हमारी जाति के भूतकालिक इतिहास का सम्बन्ध है—हमारे हिन्दू साम्राज्यों में से सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य पर एकाएक पर्दा गिरता है।

जिस अशुभ दिन सिन्ध नदी के किनारे, हमारे शूरवीर सिन्धराज दाहिर की पराजय हुई, उसी दिन हमारे भाग्य की भी पराजय हो गई। काबुल के हिंद महाराज त्रिलोचनपाल, पंजाब के राजा जैपाल और अनंगपाल, दिल्ली के महाराज पृथ्वीराज और कन्नौज के जयचंद, चित्तौर के महाराना सांगा, बंगाल के महाराजा लक्ष्मण सेन, रामदेव राओ और देवगिरि के राजा हरपाल, विजयनगर के सारे राजे और रानियां, राज-सिंहासन और मुकुट—सिंध से लेकर समुद्र पर्यंत एक-एक करके सब मिट्टी में मिल गये। निडर, धृष्ट और अजेय शत्रु हमारी हिन्दू-जाति की हांपती हुई छाती को अपने घुटने से दबाये हुए खड़ा हो गया। चित्तौर ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष की हिन्दू-राजधानियां राख की ढेर बन गईं। कभी-कभी उसी राख के ढेर से बलिदान की चिनगारियां एक क्षण के लिये प्रज्वलित हो उठती थीं। शाही तख्तताऊस पर

---

* राज्य के वैभव को देख कर (शत्रु) मछली की तरह तड़पते थे।

औरङ्गज़ेब बादशाह हमारी जाति की सारी आशाओं को पाओं तले रौंदे हुए निश्चिन्त बैठा हुआ था और लाखों तलवारें उसके क्रोध भरे पैरों की ठोकर के इशारे पर मृत्यु की भयङ्कर लीला रचाने के लिए सदा तय्यार रहती थीं।

ठीक उसी समय 'या सकल भूमण्डलांचिये ठायीं', हिन्दू ऐसा उरला नाहीं'* हिन्दू युवकों का एक दल 'एकां म्हानशा कोनांत' एक कोने में गुप्त-सभा में एकत्रित हुआ और अपने स्वर्गीय राजाओं और रानियों, धूल में मिले उन सिंहासनों और राज्यमुकटों तथा अपनी जाति की स्मारक राख की ढेर को साक्षी करके उन्होंने अपने धर्म और जाति के ऊपर किये अपमान का बदला लेने तथा हिन्दूशास्त्रों और ध्वजा का मान रखने के लिये उस अजेय शत्रु के विरुद्ध विद्रोह करने की शपथ खाई। जिस समय नवयुवकों का यह झुण्ड बाहर निकला तो उनके पास कुछ पङ्क (मुर्चा) लगी तलवारों के अतिरिक्त कुछ न था। दुनियां ने उनकी अवस्था का अनुमान करके कहा—'यह मूर्खतापूर्ण कार्य है।' बुद्धिमानों ने कहा "यह आत्मघात है" और औरङ्गजेब ने कहा "छिः, छिः।" इनका अनुमान ग़लत नहीं था क्योंकि शिवाजी पहला व्यक्ति न था जिसने विद्रोह किया हो। उससे पहले कई साहसी वीरों ने विद्रोह किया था पर वे असफल रहे जिसके कारण उनको विद्रोह का भयङ्करतम मूल्य देना पड़ा था। पर इस दल ने बदला लेने का दृढ़ निश्चय किया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि यदि वे अपने उद्देश्य में सफल न भी हो सके और विद्रोह के परिणाम स्वरूप उन्हें बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति डालनी पड़ी तो वे अपने बलिदान द्वारा एक ऐसा बीज बो जाएँगे कि आने वाली सन्तानें देश को मुक्त कराने का अविश्रान्त प्रयत्न करती रहेंगी और सदैव दासता की बेड़ी में न पड़ी रहेंगी।

---

* जब कि एक भी ऐसा हिन्दू भूमण्डल पर न बचा था (जो मुसलमानों से पद-दलित न हुआ हो)।

बीस वर्ष बीत गये। अब औरङ्गजेब का चेहरा मलिन और उसकी आवाज़ धीमी पड़ गई। वह मरहठों के नवयुवकों का झुण्ड हिन्दू-राज्य का हृदय बन गया औरङ्गजेब बादशाह ने फिर प्रण किया 'मैं काफ़िरों के झुण्ड को पहाड़ ही में नष्ट कर दूँगा।' सहस्रों चमचमाती हुई तलवारों के साथ क्रोध से भरे हुए औरङ्गजेब बादशाह ने शिवाजी के छोटे से राज्य पर आक्रमण कर ही दिया और उस देश को पाओं तले कुचल दिया पर इसके कारण वहां ऐसे विद्रोह को जन्म मिला जो उसके पांव को चिपट गया। शक्तिशाली मुसलमानी राज्य लड़खड़ाया। अब वह न तो स्थिर ही रह सकता था और न ही उनसे पीछा छुड़ा सकता था। इस प्रकार खाई चौड़ी और गहरी होती गई। बाहर निकलने के लिए वह जितना ज़ोर लगाता उतना नीचे धँसता जाता। अन्त में वह ऐसा फंसा कि वह फिर कभी न उभर सका। उसकी मृत्यु तथा लाखों चमकती हुई तलवारों की समाप्ति होने के बाद मरहठों ने फिर शक्ति ग्रहण की और उस शाही मकबरे के समीप हिन्दुओं का छोटा सा राज्य एक महान् हिन्दू-साम्राज्य में परिणत हो गया।

क्योंकि अब शीघ्र ही मरहठों का झुण्ड अपनी गेरुआ ध्वजा लिए बाहर निकला और हिन्दूधर्म की स्वतन्त्रता की लड़ाई को सारे भारत-वर्ष में फैला दिया। मरहठों ने गुजरात, खानदेश, मालवा और बुन्देल-खण्ड में प्रवेश किया, उन्होंने चम्बल, गोदावरी, कृष्णा, तुङ्गभद्रा नदियों को पार किया। उन्होंने जिनजी, नागपुर, उड़ीसा को अधीन किया और धीरे २ बढ़ कर एक-एक पत्थर जोड़ कर जमुना से तुङ्गभद्रा तक और द्वारिका से जगन्नाथ तक तमाम देश को मुसलमानों के शासन से मुक्त करा कर शक्तिशाली हिन्दू-राज्य में परिणत कर दिया। वे यमुना, गङ्गा और गंडकी आदि नदियों को पार करके पटना पहुंचे जो महाराज चन्द्रगुप्त की राजधानी थी, कलकत्ता में काली जी की और काशी में विश्वनाथ जी की पूजा की। उन दस, बारह नवयुवकों के उत्तराधिकारी

अब लाखों की संख्या में अपने झंडे को फहराते हुए और बाजा बजाते हुए मुसलमानी राज्य की राजधानी की ओर चल पड़े और उसके फाटकों को खटखटाया। उन्हें देख कर मौलवी और मौलाने आश्चर्य में पड़ गये। अभी तक उनका यही दृढ़ विचार था और वे दूसरे को भी यही विश्वास करनेपर बाध्य कर रहे थे कि कुरान सच्चा है क्योंकि इस्लामी सेनाओं द्वारा पुराणों के मानने वाले हिन्दुओं पर राजनैतिक विजय प्राप्त हुई है। पर अब जब उन्होंने देखा कि पुराणों के मानने वाले हिंदू भिन्न २ सम्प्रदाय और जाति में विभक्त, मूर्ति-पूजक और बिना दाढ़ी के होने हुए भी, असीम सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहे हैं और उन्होंने अपना गेरुआ झंडा मुसलमानी क़िलों पर गाड़ दिया है, तो वे निराशा के सागर में डूब गये। इस पर जबराईल कुरान के विरुद्ध पुराण की सफलता देखकर लड़ने को न आया। उनका विश्वास था कि भूतकाल में वह ऐसे समयों पर आया करता था। अब कोई यह नहीं कह सकता कि क्योंकि मुसलमान धर्म सच्चा है इसीलिए उसकी विजय होती रही है; और क्योंकि हिन्दू-मन्दिर गिराये गये थे इसलिये उनका धर्म झूठा है। मुसलमानों का यह उपरिलिखित दावा, जिस पर कि वे असंख्य हिन्दुओं को मुसलमान बनाते थे, अब झूठा प्रमाणित हुआ। अब मन्दिरों की चोटियां मसजिदों से ऊपर उठी दिखाई देने लगीं। चांद की रोशनी फीकी पड़ गई और उनका झण्डा अन्तिम सांस लेने लगा और हिन्दू राज्य का सुनहला झण्डा फहराने लगा। दिल्ली पर फिर पृथ्वीराज के वंशजों का शासन हो गया और हस्तिनापुर फिर एक बार हिन्दुओं के हाथ में आ गया। औरङ्गज़ेब ने शिवाजी को चूहा कहा था, लेकिन उसी चूहे ने शेर को उसकी मांद में जाकर ललकारा और उसके पंजे और दांतों को एक २ करके उखाड़ लिया। गुरु गोविन्दसिंह जी के "चिड़ियों से मैं बाज़ मरवाऊं" कथनानुसार गौओं ने गौ-बधिकों को मार डाला।

वे शूरवीर कुरुक्षेत्र में स्नान करके अपनी विजयी सेना को लाहौर ले गये। अफ़गानों ने उन्हें रोकना चाहा, पर अटक के पार भगा दिये गये। वहां पर मरहठा वीर ने लगामें खेंची और घोड़े से उतर कर थोड़ा विश्राम किया क्योंकि उसके सेनापति और नेता पूना में एकत्र होकर काबुल पार के हिन्दूकुश के ऊपर आक्रमण करने का विचार कर रहे थे, फ़ारस, इङ्गलैंड पुर्तगाल फ्रांस, हालैंड और आस्ट्रिया के राजदूत पूना में पहुंचे और उन्होंने प्रार्थना की कि वे लोग अपने राष्ट्रों की ओर से महाराष्ट्र के शाही दरबार में राजदूत बन कर रहना चाहते हैं। बंगाल के मुसलमान नवाब, लखनऊ के मुसलिम वायसराय, मैसूर के मुसलमान सुल्तान, हैदराबाद के मुसलिम निज़ाम और रुहेलखंड और अरकाट इत्यादि के छोटे बड़े सरदार अब मरहठों को कर "चौथ" और 'सर-देशमुखी" देने लगे। और भी सब कुछ देने को तय्यार थे। वे तो अब केवल जीना ही चाहते थे। निजाम अब नाममात्र के निजाम रह गये और जो कुछ मालगुज़ारी राज्य में एकत्र करते थे, वह किसी न किसी प्रकार मरहठा-राजकोष में आ ही जाया करती थी। मरहठों के शत्रु भारतवर्ष के यवन्द ही नहीं थे, वरन हम देखते हैं कि ईरानी, काबुली, तुर्क, मुगल, रुहेले और पठान पुर्तगेज़, फ्रैंच, इंगलिश और अबेसीनियन लोग सभी एक-एक करके मरहठों से स्थल और जल पर लड़े, किन्तु हिन्दू-सेना ने देश और धर्म के नाम पर लड़कर उन्हें पराजित कर दिया। रंगाना, विशालगढ़, चाकन, राजापुर, वैंनगुरला, बरसीनूर, पुरन्धर, सिंहगढ़, साल्हेर, ऊम्बरानी, सनूर, सङ्गमनेर, फोंडा, वाई, फाल्टन, जिनजी, सितारा, दिनदोरी, पालखेड़, पेटलाद, चिपलून, बिजयगढ़,

श्रीगांव, थाना, तारापुर, वसाई, सरंगपुर, जैतपुर, दिल्ली, दुराई, सेराई, भूपाल, अरकाट, त्रिचनापल्ली, कादिरगंज, फरुखाबाद, बद्रिर, कुञ्जपुर, पानीपत, राक्षसभुवन, डनावदो, मोतीतलाश्रो, धारवाड़, शुक्रताल, नसीबगढ़, बड़गाश्रों, बोरघाट, बादामी, आगरा, खारड़ा, इत्यादि स्थानों में मरहठों की स्थल और समुद्र में ऐसी भारी विजय हुई कि यदि ऐसी हमारे पुराने इतिहास में हुई होती या किसी दूसरे देश के राष्ट्र की हुई होती तो वहां पर उन्हें स्मरण करने के लिये विजय-स्तम्भ खड़ा किया गया होता। शिवाजी के जन्म से लेकर नाना फड़नवीस के समय तक हरिभक्तों को कही पराजय नही हुई। ज्यों २ वह उन्नति करते गये, छोटी २ जागीरें जितने बड़े कि दूसरे देशों में वहुत से राज्य हैं, देते गये सतारा, नागपुर, कोल्हापुर; तंजोर सांगली, मिराज, गुन्ती, बड़ौदा, धार, इंदौर, झांसी, ग्वालियर, और भी बहुत से स्थान सूबों की राज-धानियां थीं; जो कि इतने बड़े २ हैं जितने बड़े यूरुप में बहुत से राज्य हैं। उन्होंने हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, मथुरा, डाकोर, बाबू और अवन्ती, परशुराम और प्रभास, नासिक, त्र्यम्बक, द्वारिका, जगन्नाथ, मालि-कर्जुन, मदुरा, गोकुल, गोकर्ण इत्यादि, स्थानों को विदेशियों के पंजे से मुक्त किया। काशी प्रयाग और रामेश्वर फिर से गर्वपूर्ण निर्भय हो कर अपने कलस उठाने के योग्य तन गये और वे मन में परमात्मा को धन्यवाद देने लगे कि एक हिन्दू-राज्य अब भी उनके शत्रुओं से बदला लेने के लिये जीवित है। इस हिन्दू साम्राज्य में पुराने समय के मउखरि, चालूक्य, पल्लव, पांड्य, चोल, केराल, राष्ट्रकूठ, अंध्रा, केसरी, भोज, मालवा, हर्ष और पुलकेशिन के राज्य, राठोड़ और च्यवन आदि सभी पुराने वंशों के राज्य, सम्मिलित थे। इनके गवर्नर और सेनापति इतने बड़े २ देशों पर शासन करते थे कि पुराने समय में उतने बड़े राज्य पर शासन करने वाले अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। पहले और दूसरे चन्द्र-गुप्त के राज्यों को छोड़ कर कोई हिंदूराज्ज इतना विशाल और विस्तृत

नहीं हुआ, और न इतना गौरव प्राप्त कर सका। और जहां तक जातीय सेवाओं, आत्म बलिदानों का संबंध है, किसी को भी मरहठों की तरह भयंकर आपदाओं और विपत्तियों का सामान नहीं करना पड़ा और ऐसी कठिनाइयों का सामना करते रहने पर भी कोई भी राज्य मरहठा राज्य की तुलना नहीं कर सकता।

शायद हमारे इतिहासों में, जो मनुष्य सब हिंदू राजाओं को परास्त कर देता था, वह चक्रवर्ती कहलाता था और जो विदेशियों से देश और धर्म की रक्षा करता था उसे 'विक्रमादित्य' कहा करते थे। पहले विक्रमादित्य ने सीदियन लोगों को देश से से निकला दूसरे ने शक लोगों को और तीसरे ने, जिन्हें यशोधर्मा विक्रमादित्य कहते हैं, हूण लोगों को हटाकर उनके राजा को एक महान युद्ध में मार डाला। यदि हमारी यह कल्पना सत्य हैं कि विक्रमादित्या का महान पद उसे ही मिलता था जो धर्मयुद्ध में लड़कर विदेशियों को मार भगाता था, सो जो दिग्विजय करने के लिये अपनी सैनिक शक्ति के उत्कर्ष के लिये नहीं अपितु देश और धर्म दोनों को विदेशियों की पराधीनता से स्वतन्त्रता कराने के लिये लड़े हों और उन्होंने उन पर विजय पाई हो तब उनके कार्य, जिन्होंने यह सब से आखिरी हिन्दू-साम्राज्य स्थापित किया, कई प्राचीन चक्रवर्तियों और विक्रमादित्यों के कार्यों और उनके उद्देश्यों की दृष्टि से किसी प्रकार भी कम महत्वशाली नहीं। इसलिये वे भी चक्रवर्त्ती और विक्रमादित्य दोनों पदों से विभूषित किये जाने के अधिकारी हैं और प्रत्येक हिन्दू का धर्म है कि वह उनके प्रति वही भाव रक्खे जो पुराने भारतीय अपने चक्रवर्ती राजाओं और विक्रमादित्य राजाओं के प्रति रखा करते थे। क्योंकि उन्होंने जातीय पताका राजपूतों के शिथिल हाथों से पकड़ी और हिन्दुओं से घृणा करने वाले सभी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा दाहिर, अनंगपाल, जैपाल, पृथ्वीराज, हरपाल प्रताप इत्यादि राजाओं के बलि-

दानों और चितौड़ और विजयनगर की राजधानियों पर किये गये अत्याचारों का बदला अच्छी तरह लिया।

मरहठों ने छः शताब्दियों में प्राप्त की हुई मुसलमानों की विजय को एक शताब्दी में मिटा दिया। यदि वे पूर्ण रीति से जगे होते तो अर्द्ध-शताब्दी भी न लगी होती।

अब हम हिन्दुओं को उचित है कि इन शूरवीरों के द्वारा किये गये हिंदू-जाति के उपकारों के लिये सदैव उन्हें श्रद्धाभक्ति की दृष्टि से देखते रहें, सदैव कृतज्ञता प्रकट करते रहें और जिस बड़े राज्य को उन्होंने स्थापित किया था उसपर एक बार दृष्टिपात करलें, क्योंकि शीघ्र ही और अकस्मात इस विशाल साम्राज्य के ऊपर परदा पड़ने वाला है और यह हम लोगों के सजल नेत्रों से ओझल हो जाने वाला है।

७

पटाक्षेप

❀ हिंमत सोडूं नये सर्व पुन्हा येइल उदयाला"—प्रभाकर

यह सिंहावलोकन हमने सन् १७९५ ई० अर्थात खारडा की लड़ाई तक किया है। पहले के सब वर्णन इसी काल से सम्बन्ध रखते हैं। हमारा उद्देश्य घटनाओं की गणना करने का नहीं था। हमारा उद्देश्य यही रहा है कि मरहठों के मुख्य २ आदर्शों और सिद्धान्तों को जनता के सामने लायें और उनके उन मनोरथों और उद्देश्यों का पता लगायें जिनके लिये मरहठे देश की धर्मवेदी पर बलिदान देने के लिये प्रस्तुत हुए। और इन ही आदर्शों के प्रकाश में हिन्दू जाति के इतिहास में मरहठों के इतिहास का स्थान निश्चित करें। यह कार्य समाप्त हो गया।

❀ इस आशा को दृष्टि में रख कर कि भले दिन फिर कभी न कभी अवश्य उदय होंगे हिम्मत नहीं हारनी चाहिए।

उसपर भी सन् १७६५ ई० से लेकर १८१८ ई० तक का समय, जिसमें महाराष्ट्र राज्य का विध्वंस हुआ, अभी शेष रह गया है और वह ऐसा रोमाञ्चकारी है कि उसका वर्णन बिना आंसू बहाये नहीं हो सकता।

हम ऊपर देख आये हैं कि मरहठे, मुसलमानों के छः शताब्दियों के बढ़े हुए प्रभाव को सत्यानाश करके थके हुए हैं और आराम करने के लिए जा रहे हैं। ठीक इसी समय एक शक्तिशाली राष्ट्र इस पर आक्रमण करता है जो पहले दो बार नीचा देखकर चुप हो गया था।

मरहठे तीसरी बार भी उन पर विजित हुए होते या उन्हें अवश्य भगा देते, किन्तु अभाग्यवश उसी समय नाना फड़नवीस मर गया और बाजीराओ दूसरा मरहठों का पेशवा हुआ जो कि शत्रुओं का निस्सन्देह दास था। यह दो व्यक्ति-नाना और बाजीराओ द्वितीय-परस्पर विरुद्ध वृत्तियों के प्रतीक थे—सारे महाराष्ट्र आन्दोलन में इन दो परस्पर विरुद्ध वृत्तियों का सदा संघर्ष चलता रहा है—एक वृत्ति तो स्वार्थ और राष्ट्रीय हित विरोधी आत्म-उन्नति की ओर बढ़ाती रही और दूसरी वृत्ति स्वार्थ त्याग तथा परोपकार का पाठ पढ़ाती रही जिससे मनुष्य आप राज्य मुकुट प्राप्त न करके अपने देश के गौरव के उत्कर्ष बढ़ाने और अपनी जाति को स्वतन्त्र कराने में सफल होता था। यद्यपि मरहठे इस कुवृत्ति को पूर्णतया नष्ट न कर सके तो भी उन्होंने नाना फड़नवीस के समय तक इसे विकसित नहीं होने दिया—इसी के फलस्वरुप वे हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना कर सके थे। बाजीराव द्वितीय अति स्वार्थी पेशवा था और किसी प्रकार और मरहठों से मेल और सहानुभूति नहीं रखता था। ज्यों ही शासन की बागडोर इसके हाथ में पहुंची, इस पर विदेशी राष्ट्र के द्वारा आक्रमण हुआ। यदि वह राष्ट्र भारतवर्ष का होता या एशिया महाद्वीप के अन्तर्गत किसी राष्ट्र का होता तो मरहठे अवश्य विजयी हुए होते, क्योंकि एशिया के राज्यों में मरहठे सब से

संगठित थे। परन्तु यह शत्रु इंगलैंड का था। अब इस युद्ध का फल वही निकला जिसकी सम्भावना था।

उस समय इंगलैंड के पास मरहठों की अपेक्षा राज्यों के विजय करने के साधन अधिक श्रेष्ठ थे। उनके देश में बड़ी-बड़ी गृह कलायें, वार आफ रोज़ज़, धार्मिक उपद्रव और स्टार चैम्बर की क्रूरता की घटनाएं हो चुकी थी जिन के कारण उन में युद्ध-सम्बन्धी उन्नति अधिक हो गई थी। मरहठों में आज्ञा-पालन, शासन करना, अपने देश और राजा के प्रति भक्ति रखना अपने झंडे पर अभिमान करना, जातीय-मिलाप, और दृढ़ विचार इत्यादि गुण एशिया वासियों के अन्य लोगों से अधिक थे, किन्तु अङ्गरेजों की अपेक्षा बहुत ही कम थे।

उस पर भी वे बड़ी वीरता से लड़े, क्योंकि वे भली भांति जानते थे कि इस समय जीवन-मरण का प्रश्न है। किसी-किसी देश-भक्त ने जैसे बापू गोकल ने, प्रण कर लिया था कि वे मर जायेंगे, किन्तु हथियार नहीं रखेंगे। उन्होंने अङ्गरेजी सेनापति से कह दिया कि—'हम अपने कफन को अपने सिरों पर लिए हुए हैं और अपने हाथ में तलवार लिये लड़ कर मर जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया है'। जिस समय सारे योग्य और राजनीतिज्ञ सेनापति—महादजी, नाना फड़नवीस, राघोजी, तुकोजी और फाड़के काम करते-करते मृत्यु की भेंट हो चुके थे उस समय निकम्मा बाजीराव द्वितोय मरहठों का सेनापति था और इङ्गलैंड जैसा शक्तिशाली था उनका शत्रु। इस लिये युद्ध का फल पहले ही से ज्ञात हो गया था। मरहठे पराजित हुए, उनके साथ-साथ भारत के अन्तिम हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हो गया। केवल पंजाब में सिक्ख हिन्दु-स्वतन्त्रता के चिराग को बत्ती की भांति टिमटिमा रहे थे, पर वह भी इन्हीं कारणों से बुझने ही वाले थे।

हम यह मानते हैं कि हम दुख का अनुभव करते हुए अपने महान राष्ट्रीय साम्राज्य की समाधि पर स्मरणलेख लिख रहे हैं। किंतु हम

इंगलैण्ड की विजय पर ईर्ष्या नहीं करते। हम तो खिलाड़ियों की तरह निष्पक्ष होकर उनकी चतुराई और शक्ति की प्रशंसा करते हैं जिसके कारण उन्होंने समुद्रों, द्वीपों और प्रदेशों पर हाथ फैलाते हुए हमारे संघर्षमय हाथों से भारत साम्राज्य को छीन लिया और उसकी नींव पर उसने एक शानदार विश्वव्यापी अद्वितीय साम्राज्य की स्थापना कर ली, जिसका कि इतिहास में कोई और उदाहरण नहीं मिलता।

सन् १८१८ में हमारे सबसे अन्तिम और सबसे शानदार हिन्दू-साम्राज्य की समाधि बन गई। इसकी रखवाली करो। निराश मत बनो और ईसा की माता मेरी की तरह चिन्तायुक्त होने पर भी प्रार्थना करते रहो—क्योंकि पता नहीं कि कब यह हिन्दू-साम्राज्य पुनर्जीवित हो जाए।

❀ ओम् शम् ❀